



इस बार

सम्पादक

किशन कालजयी

सहायक सम्पादक

प्रकाश देवकुलिश

राजन अग्रवाल

बसन्त हेतमसरिया

ब्यूरो

उत्तर प्रदेश : शिवाशंकर पाण्डेय

मध्यप्रदेश : जावेद अनीस

बिहार : कुमार कृष्णन

झारखण्ड : महादेव टोप्पो

सम्पादकीय सलाहकार

आनन्द कुमार

मणीन्द्र नाथ ठाकुर

आनन्द प्रधान

मंजु रानी सिंह

विजय कुमार

मीरा मिश्र

सन्तोष कुमार शुक्ल

अखलाक 'आहन'

प्रबन्ध निदेशक

अभय कुमार झा

सम्पादकीय सम्पर्क

बी-3/44, तीसरा तल, सेक्टर-16,

रोहिणी, दिल्ली-110089

+918340436365

sablogmonthly@gmail.com

sablog.in

वेब सहायक : गुलशन कुमार चौधरी

सदस्यता शुल्क

एक अंक 25 रुपये – वार्षिक : 300 रुपये

द्विवार्षिक : 500 रुपये – आजीवन : 5000 रुपये

सबलोग

खाता संख्या-49480200000045

बैंक ऑफ बड़ौदा

शाखा-बादली, दिल्ली

IFSC-BARB0TRDBAD

स्वामी, सम्पादक, प्रकाशक व मुद्रक किशन कालजयी द्वारा बी-3/44, सेक्टर-16, रोहिणी, दिल्ली-110089 से प्रकाशित और लक्ष्मी प्रिन्टर्स, 556 जी.टी. रोड शाहदरा दिल्ली-110032 से मुद्रित। पत्रिका में प्रकाशित आलेखों में व्यक्त विचार लेखकों के हैं, उनसे सम्पादकीय सहमति अनिवार्य नहीं।

पत्रिका अव्यावसायिक और सभी पद अवैतनिक

पत्रिका से सम्बन्धित किसी भी विवाद के लिए न्यायक्षेत्र दिल्ली।

मुनादी / जरूरत है एक सहिष्णु सामाजिक नजरिये की 4

तीसरी आबादी का सच

किन्नर का सामाजिक यथार्थ : लता अग्रवाल 5

वैदिक साहित्य और तृतीयलिंगी : विजेन्द्र प्रताप सिंह 7

अधिकार संरक्षण या अधिकार हनन : प्रमोद मीणा 9

दृश्य श्रव्य माध्यमों में समलैंगिकता के मुद्दे : अनिल शर्मा 12

हिन्दी सिनेमा में तृतीयलिंगी : पुखराज जाँगड़ 14

किन्नरों के जीवन का सच : सुशील कुमार 17

समलैंगिकों से संवाद : शैलजा टंडन 19

आत्मकथ्य

हाँ, मैं ट्रांसजेण्डर हूँ : धनञ्जय चौहान मंगलमुखी 21

साक्षात्कार

जोकर या यौन खिलौना

मानबी बंद्योपाध्याय से प्रियंका दास गुप्त की बातचीत 24

राज्य

बिहार / मरते बच्चे, बिलखते परिजन : महेश तिवारी 26

मध्य प्रदेश / आदिवासी, दलित और अल्पसंख्यकों पर हिंसक हमले : शिवानी तनेजा 28

दिल्ली / महिलाओं को मुफ्त मेट्रो : प्रेमपाल शर्मा 31

पश्चिम बंगाल / डॉक्टरों की हड़ताल के निहितार्थ : आशुतोष 32

स्तम्भ

चतुर्दिक / भारतीय राजनीति में भाजपा का वर्चस्व : रविभूषण 33

खुला दरवाजा / क्या सचमुच होती हैं परियाँ? : ध्रुव गुप्त 36

आँखन देखी / साहित्य, समाज और राजनीति : मणीन्द्र नाथ ठाकुर 38

देशकाल / घटता जल, घटता जीवन : राहुल सिंह 41

तीसरी घण्टी / सावधान, यहाँ नुक्कड़ नाटक करना मना है : राजेश कुमार 43

हाँ और ना के बीच / नाम की उलझन : रश्मि रावत 46

विविध

स्मरण / गिरीश कारनाड : एक विरल प्रतिभा : हृषीकेश सुलभ 48

साहित्य / हिन्दी की हिन्दुत्ववादी आलोचना : अमरनाथ 50

सामयिक / राजनैतिक मूल्यों की अनुपस्थिति में : मेधा पाटकर 53

एक पुरातत्त्ववेत्ता की डायरी / गड़े खजाने पर कुण्डली मारे बैठा साँप : शरद कोकास 56

मुद्दा / गोलियों से गाँधी मर नहीं सकते : रामस्वरूप मन्त्री 58

स्त्रीकाल / स्त्री विमर्श के प्रचलित मिथ : सुनीता गुप्ता 60

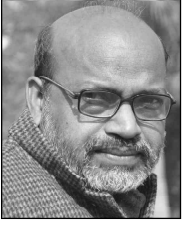
लोकनीति / लोकतन्त्र पर प्रश्नचिन्ह : विवेकानन्द माथने 62

आन्दोलन परिक्रमा / एनएपीएम टीम 64

आवरण : क्वालिटी प्रिन्टर्स, दिल्ली

अगला अंक : संकट में स्वास्थ्य

जरूरत है एक सहिष्णु सामाजिक नजरिये की



किन्नरों के बारे में समाज की प्रचलित अवधारणा यही है कि वे जन्मोत्सव के अवसर पर बधाइयाँ गाने और नाचने आते हैं या रेलगाड़ियों में अपनी मनोरंजक और अश्लील अदाओं के माध्यम से पैसे वसूलते हैं। लेकिन इन गतिविधियों के अलावा जो उनका जीवन है और जीवन-संघर्ष है उनके बारे में लोग बहुत कम जानते हैं या नहीं जानते हैं।

किन्नरों की उपस्थिति के प्रमाण द्वारपर और त्रेता युग में भी मिलते हैं। पाण्डवों के अज्ञातवास के दौरान अर्जुन मत्स्य जनपद की राजधानी विराटनगर के राजमहल में बृहन्नला नामक हिजड़े के भेष में राजकुमारी को संगीत और नृत्य सिखाते थे। गुजरात के किन्नर अर्जुन के बृहन्नला रूप की आज भी पूजा करते हैं। महाभारत में शिखण्डी का जिन्न आता है, जिसके कारण भीष्म का वध हुआ। भीष्म ने अपने पराक्रम से जब पाण्डव सेनाओं का बड़े पैमाने पर संहार शुरू किया तो रणनीति के तहत पाण्डवों ने शिखण्डी को आगे कर दिया। शिखण्डी को देख भीष्म ने धनुष वाण रख दिया। शिखण्डी भीष्म पर वाणों की वर्षा कर रहे थे, लेकिन उसके वाण भीष्म को वेध नहीं पा रहे थे। फिर शिखण्डी की आड़ में आकर अर्जुन ने भीष्म को धराशायी किया।

रामकथा में एक प्रसंग है कि राम, लक्ष्मण और सीता जब वनगमन के लिए निकले तो अयोध्यावासियों के साथ भरत उनसे अयोध्या वापस लौटने का अनुरोध करने के लिए चित्रकूट तक आये, उस समूह में कुछ हिजड़े भी आये थे। राम ने अनुनय को अस्वीकार करते हुए सभी नर-नारियों को वापस जाने कहा लेकिन हिजड़ों के लिए उन्होंने कुछ नहीं कहा। राम 14 वर्षों के बाद जब वापस लौटे तो वे हिजड़े उन्हें वहीं उनका इन्तजार करते हुए मिले। इस बात से राम इतने प्रभावित और प्रसन्न हुए कि उन्होंने हिजड़ों को आशीर्वाद दिया कि कलियुग में जिनपर हिजड़ों की दुआ रहेगी उनका कोई अनिष्ट नहीं होगा। आज भी ऐसे लोगों की कमी नहीं है जो मांगलिक अवसरों पर किन्नरों को मुँहमाँगा ईनाम देते हैं।

किन्नरों की यह प्रतिष्ठा महाभारत काल से लेकर मुगल काल तक कायम रही। यौनिक अक्षमता के कारण राजमहलों में रानियों की सुरक्षा और हरम की रखवाली में विशेष तौर पर इनकी नियुक्ति होती थी, इसलिए सुविधा प्राप्त समुदाय के रूप में इनका सुचारू ढंग से जीवन चल रहा था। लेकिन अँग्रेजों के शासन काल से इनकी स्थिति बिगड़ने लगी। 1871 में अँग्रेजों ने 'आपराधिक जनजातीय अधिनियम' के माध्यम से घुमन्तु समुदाय के साथ इन पर कई तरह के प्रतिबन्ध लगाये। फिर 1897 में इसी अधिनियम का संशोधन करते हुए इन्हें अपराधियों की श्रेणी में डालकर इनका जीना दूभर कर दिया। धारा 377 के तहत इनकी गतिविधियों को गैरजमानती अपराध घोषित कर इन्हें सामन्तों और थानेदारों के रहमोकरम पर जीने के लिए विवश कर दिया गया। चोर-बदमाश किस जाति में नहीं होते, फिर किसी खास जाति या समुदाय को अपराधी मानकर अपमानित करना अँग्रेजों की यह नीति कहीं से जायज नहीं थी।

आजादी के बाद इन्हें जरायमपेशा जातियों की सूची से तो अलग कर दिया गया लेकिन धारा 377 की तलवार इन पर लटकती रही। 1947 के बाद अँग्रेज तो भारत से चले गये लेकिन अपने तीन सौ वर्षों के शासनकाल के दौरान रियाया के बीच जेहनियत का जो बीज उन्होंने बोया था उसी का फल था कि किन्नरों तथा घुमन्तु समुदायों के प्रति द्वेष और नफरत के भाव व्याप्त रहे।

नवम्बर 2009 में भारत सरकार ने स्त्री पुरुष से अलग इनकी पहचान को मान्यता दी और मतदाता सूची और इनके मतदाता पहचान पत्र तथा सभी तरह के आवेदनों में 'अन्य' का उल्लेख अनिवार्य किया। इतना ही नहीं सर्वोच्च न्यायालय ने इन्हें सन्तान गोद लेने का तथा चिकित्सा के माध्यम से स्त्री या पुरुष बनने का भी अधिकार प्रदान किया।

दरअसल यह एक सच्चाई है कि हमारा समाज सिर्फ कानून से नहीं चलता, सामाजिक मान्यताओं की भी महत्वपूर्ण भूमिका होती है। किन्नरों के पक्ष में कानून चाहे जितने और जिस तरह के बन जाएँ, जब तक समाज व्यापक तौर पर उनकी शारीरिक कमियों को नजर अन्दाज करते हुए एक मनुष्य के रूप में उन्हें स्वीकार नहीं करता तबतक उनकी मानसिक यन्त्रणा कम नहीं होगी। हमें यह स्वीकार करना चाहिए कि प्राकृतिक कारणों से उनकी शारीरिक संरचना थोड़ी अलग रहती है और उनकी यौन प्रवृत्तियाँ भी बदली बदली होती हैं। कुदरती कारणों से यदि उनकी कोई शारीरिक कमियाँ हैं तो उपयुक्त चिकित्सा से ये ठीक भी हो सकती हैं और नहीं भी हो सकती हैं। दोनों ही परिस्थितियों में हमें उनके प्रति संवेदनशील बने रहने की जरूरत है। उनकी शारीरिक और मनोवैज्ञानिक दशा चाहे जो हो यह तथ्य हमेशा याद रखा जाना चाहिए कि उनके पास एक मन है और उनके पास भी एक तन है। सवैधानिक दायरे में वे जिस तरह भी जीना बसना चाहें, हमें सहिष्णु होकर उनका सहयोग करना चाहिए।

तृतीयलिंगियों की दुनिया में जोड़ता मण्डल देश की पहली न्यायाधीश, शानवी पोनुस्वामी पहली मॉडल, पृथिका यशिनी पहली पुलिस उपनिरीक्षक, मानवी बंधोपाध्याय पहली महाविद्यालय प्राचार्य और शबनम बानो पहली विधायक बनीं और आज देश में उनका सम्मान है। लेकिन उनके जीवन के भीतर झाँककर देखें तो उनका इतिहास अपमान, घुटन और जलालत से भरा हुआ है। इनमें से कइयों को माँ बाप की ही प्रताड़ना झेलनी पड़ी, एक आई.पी.एस. परिवार में जन्मी किन्नर को भी घर से बाहर कर दिया गया। किन्नरों के प्रति उनका खुद का परिवार और हमारा समाज यदि सहिष्णु और सहयोगी होता तो आज हमारे पास कई शबनम बानो और कई मानवी बंधोपाध्याय होतीं।

शिक्षा, चिकित्सा, संगीत, राजनीति, न्यायिक सेवा, सामाजिक कार्य समेत मुख्य धारा के लगभग सभी क्षेत्रों में अपनी उपलब्धियों के खूँटे गाड़कर इन्होंने यह प्रमाणित कर दिया है कि अगर इन्हें शिक्षा और प्रशिक्षण का समुचित परिवेश मिले तो ये कोई भी उपलब्धि हासिल कर सकती हैं और इनके योगदान से समाज में चौतरफा समृद्धि भी आ सकती है। यह काम सिर्फ कानून बनाने से नहीं हो सकता, समाज के नजरिये को बदलने की जरूरत है।

(किशन कालजरी)

किन्नर का सामाजिक यथार्थ

आवर्ण कथा

लता अग्रवाल

आज यह समाज संकट में है, कारण इनकी संख्या तो कम हो गयी किन्तु इस व्यवसाय में रुपया और ग्लेमर देखकर पूर्ण कहे जाने वाले समाज के कई लोगों ने इस व्यवसाय को अपना लिया है। मूल किन्नर पर हावी हो इनकी रोजी रोटी पर डाका डाले हुए हैं। बड़ी बात यह है कि हम इन पर लेख तो लिखना चाहते हैं, शोध तो करना चाहते हैं मगर समाज में, अपने दिल में इन्हें जगह देने से कतराते हैं।



जब परिवार में कोई तृतीयलिंगी बच्चा जन्म लेता है तो उसके होने की खबर गुप्त रखी जाती है, या तो वह जमीन में जिन्दा गाड़ दिया जाता है, कूड़ेदान में फेंक दिया जाता है, या फिर किसी मन्दिर या अनाथालय की सीढियों पर छोड़ दिया जाता है। जन्म होते ही ये बच्चे जो घर से बाहर कर दिए जाते हैं इसका बड़ा कारण है ...समाज, क्योंकि समाज ही कहता है, देखो! देखो! उसने एक हिजड़े को जन्म दिया। प्रश्न उठता है हिजड़े का जन्म क्या पाप है ...? नहीं। यह भी ईश्वर की एक संरचना है।”

महामण्डलेश्वर लक्ष्मी नारायण त्रिपाठी कहती हैं, “इतना सब हमारे साथ होने पर भी हमसे इतने सवाल...! और जो माता पिता इन सन्तानों को छोड़ देते हैं उनसे कोई प्रश्न नहीं...! यह कैसा न्याय है?” वाकई यह तो अन्याय है। उन्होंने भी गर्भ में नौ माह की अवधि पार की है, उनका भी जिस्म है, एक दिल है पास उनके भी रूह है।...फिर क्यों उन्हें हाशिये पर डाला गया...? सीधा सा जवाब है, पुरुष सत्ता ने अपने वर्चस्व के लिए नारी को गौण और हिजड़ों को हाशिये पर डाल दिया।

बचपन जीवन की सबसे खूबसूरत अवस्था

होती है, जिसकी स्मृति सभी सम्हालकर रखना चाहते हैं। किन्तु जो बचपन अपने ही घर के आँगन से निकालकर बाहर कर दिया गया हो क्योंकि उनका लैंगिक स्तर समाज के दोनों वर्गों से मेल नहीं खाता ..! अपने ही जता देते हैं, यह परिवार के लायक नहीं, ऐसा बचपन ट्रेन में, सिग्नल पर भीख माँगकर कटता है। चोरी करता है, बलात्कार का शिकार होता है, फिर संक्रमित हो जवानी से पूर्व त्रासद मौत पाता है। यह है इस समाज का सामाजिक यथार्थ। लखनऊ हजरतगंज डेरे की गुरु माई पायल का जीवन इसकी मिसाल है कि अपने ही पिता की कोप भाजन बनी पायल को जब पिता ही फांसी पर लटकाना चाहता है तो उसके लिए उस घर से भाग जाने के आलावा कोई रास्ता नहीं रहता। मगर घर से बाहर की जिन्दगी का संघर्ष कितना दुष्कर है वह पायल, सिमरन, काजल, अमृता जैसे लोग ही बता सकते हैं जिन्होंने इस संघर्ष का लम्हा-लम्हा जिया है। जिस भूख की अभिलाषा रही कि माँ अपने हाथों से निवाले मुँह में डाले उसी भूख ने ट्रेन की पटरियों पर से सड़ा हुआ, बदबूदार खाना उठाकर खाने पर मजबूर कर दिया। फिर पुलिस



लेखिका वरिष्ठ साहित्यकार हैं।
+919926481878
agrawallata8@gmail.com

की बदनीयति की शिकार, ठण्ड की ठिठुरन में खलती रिशतों की गर्माहट, टॉकीज में काम करना स्वयं को पुरुषों से बचाए रखने के लिए लड़के का रूप धारण करना, अन्ततः अपने समाज के हाथों चढ़ जाना...?

कैथोलिक परिवार में जन्मी अमृता सोनी कहती हैं, “लोगों को लगता है ताली बजाकर कहना कि ‘ए देना रे दस रुपया’....बहुत आसान है। हम कहते हैं गाड़ी के शीशे चढ़ाना आसान है। क्योंकि भूख की पीड़ा क्या होती है ये लोग नहीं समझेंगे।” परिणाम उस भूख को मिटाने का एक ही रास्ता रह जाता है उनके पास देह का सौदा करना, क्योंकि कोई और रास्ता उनके लिए छोड़ा नहीं। ‘अमृता को पढ़ने की ललक थी, उसने पैसे कमाये कभी भीख माँगकर, कंडोम बेचकर, कभी बार मे डांस कर, कभी

में बेगानी बना दी गयी। भला कैसे हर दिन सामना करती उनकी बेगानी आँखों का...।”

प्रत्येक व्यक्ति को एक सोशल स्पॉट की आवश्यकता होती है जो माता पिता, परिवार और समाज से मिलता है, किन्तु वह सहारा तो हमने उनसे छीन लिया अतः वे अपने समाज की नागरिकता ले लेते हैंवह समाज जो हर सुख दुख में उनके साथ खड़ा रहता है। सिमरन, शिल्पा, काजल आदि इसके उदाहरण हैं जिन्हें अपनों ने मरने के लिए छोड़ दिया और किन्नर गुरुओं ने गले लगाकर प्यार भरी परवरिश दी। ऐसे में क्या गलत है कि उनके मन में उन तथाकथित अपनों के प्रति आक्रोश हो, व्यवहार में तल्लिखियाँ हो, हम उनके व्यवहार पर सदा प्रश्न चिन्ह खड़े करते हैं, लोग उन्हें हिंसक मान उनसे खौफ खाते हैं, क्यों ...? सोचिए जरा

अशिक्षित वर्ग का इनके प्रति व्यवहार मान भी लें मगर अफसोस! शिक्षित समाज भी अपनी बेरुखी में पीछे नहीं है। किन्नर मंगला के अनुसार रेप होने पर डॉक्टर के पास गयी तो पहले तो देखने से इंकार कर दिया, ज्यादा मिन्नत की तो नंगा कर अपने जूनियर के लिए क्लास खोल कर बैठ गया। “देखो ऐसा होता है इनका यौनांग...।”

क्लास में डांस कर, कभी तन बेचकर।” अमृता जब यह बात बताती है दिल दहलता है कि, “जिस डिग्री को पाने के लिए जिस्म बेचा . ..जब वह डिग्री हाथ आयी तो मैं एड्स से पीड़ित हो चुकी थी। आज एक हाथ में वह डिग्री थी दूसरे हाथ में एचआईवी पॉजिटिव की रिपोर्ट....समझ नहीं आ रहा था खुश होऊँ या रोऊँ ...एक पल को सोचा क्यों जी रही हूँ मैं...?” सोचिये जरा आज अमृता को परिवार और समाज की स्वीकृति मिली होती तो यह एम.बी.ए. की डिग्री उसे खालिस खुशी न देती?

शिल्पा गुरु जो आज भोपाल मंगलवारा की गुरु हैं लगभग जीवन के सातवें दशक में होंगी, उन्होंने उन्नीस वर्ष की अवस्था में घर छोड़ा, जब मैंने उनसे प्रश्न किया कि क्या आवश्यकता पड़ गयी इस उम्र में घर छोड़ने की जब इतनी उम्र निकल गयी तो आगे भी निकल जाती अपनों के साये में ...? उनका जवाब था, “माँ के गुजरते ही भाई-बहनों की आँखों की किरकिरी बन गयी ...अपने ही घर

जिस बच्चे को बचपन से घर के बाहर निकाल दिया जाए, ठोकरें उसका नसीब बन जाए, अनगिनत बार उसका बलात्कार हो जाए, एक वक्त का चूल्हा जलाने के लिए उसे महज 25-30 रुपये में अपनी देह का सौदा करना पड़े फिर भी उससे सहज व्यवहार की उम्मीद रखें....यह तो सरासर नाइंसाफी है।

जीवनयापन के लिए महंगे कपड़े, मेकअप का सामान, एक छत, मकान भी किराए से लेने जाएँगे तो औरों से ज्यादा किराया, बस में जाते हैं तो कोई स्त्री पास बैठने से खौफ खाती है तो कोई पुरुष पास बैठने से एतराज जताता है अतः बेहतर साधन होता है ऑटो, यानी महंगा साधन। इन सबके लिए पैसा तो चाहिए न... उनके जीवन की वैध जरूरतें हैं ये।

अशिक्षित वर्ग का इनके प्रति व्यवहार मान भी लें मगर अफसोस! शिक्षित समाज भी अपनी बेरुखी में पीछे नहीं है। किन्नर मंगला के अनुसार रेप होने पर डॉक्टर के पास गयी तो पहले तो देखने से इंकार कर दिया, ज्यादा

मिन्नत की तो नंगा कर अपने जूनियर के लिए क्लास खोल कर बैठ गया। “देखो ऐसा होता है इनका यौनांग...।” यह पीड़ा अन्य देशों की अपेक्षा भारत की अधिक है। थाईलैंड में भी जब किन्नर देखे तो वे सामान्य तौर पर अपना कार्य कर रहे हैं, लोगों की नजरों में वे कहीं से अलग नहीं हैं। किन्तु भारत में यदि पास से किन्नर गुजरता है तो हमारी निगाह उसी पर टिक जाती है, यदि कोई साथ है तो खुसुर फुसुर चालू हो जाती है।

कुछ उदाहरण हमारे समक्ष हैं जहाँ परिवार का साथ इन बच्चों को मिला तो उन्होंने जीवन में अपने लक्ष्य को प्राप्त कर परिवार, समाज और राष्ट्र का मान बढ़ाया है। उनमें महामण्डलेश्वर लक्ष्मी नारायण त्रिपाठी, फिल्म की स्क्रिप्ट राइटर गजल, अजमेर से ‘दीपक’ जो कहते हैं, “मेरे माता-पिता ने कभी एहसास नहीं कराया कि मुझमें कोई कमी नहीं, हमें अपनाया जाना इंसानी जरूरत है। हम अलग हैं इसके लिए माफी नहीं माँगेंगे ...क्योंकि जितनी ज्यादा आप दया माँगते हैं किसी से, उतनी ज्यादा घृणा आप पाते हैं।”

आज यह समाज संकट में है, कारण इनकी संख्या तो कम हो गयी किन्तु इस व्यवसाय में रुपया और ग्लेमर देखकर पूर्ण कहे जाने वाले समाज के कई लोगों ने इस व्यवसाय को अपना लिया है। मूल किन्नर पर हावी हो इनकी रोजी रोटी पर डाका डाले हुए हैं। बड़ी बात यह है कि हम इन पर लेख तो लिखना चाहते हैं, शोध तो करना चाहते हैं मगर समाज में, अपने दिल में इन्हें जगह देने से कतराते हैं।

अगर समाज में यह जागृति आ जाती है तो किसी थर्ड जेण्डर को अपना बचपन नहीं खोना पड़ेगा, कोई सिमरन, बुलबुल या फिर पायल को पिता की नफरत का सामना नहीं करना पड़ेगा। किसी शिल्पा, कामी, काजल को बाबुल का आँगन छोड़ने पर विवश नहीं होना पड़ेगा। गौरी, पायल, लक्ष्मी, अमृता, बिंदिया आदि ने तो साबित कर दिया कि अपनी दृढ़ इच्छाशक्ति से वे स्वयं को इस मुकाम तक ला पायी हैं यदि इसमें परिवार और समाज का सम्बल मिलता तो...उन्हें अपनी सफलता की वह कीमत न चुकानी पड़ती जो उन्होंने चुकायी है। □

वैदिक साहित्य और तृतीयलिंगी

आवरण कथा

विजेन्द्र प्रताप सिंह

वर्तमान सामाजिक व्यवस्था के विपरीत वैदिक काल में थर्ड जेण्डर समुदाय को न तो समाज से बहिष्कृत किया जाता था और न ही दण्डित किया जाता था। उन्हें समाज में गृह स्थापना, विवाहित रूप में एक साथ रहना तथा सामाजिक व्यवहारों में सहभागिता के साथ जीवन यापन करने का अधिकार अन्य मानवों की तरह ही प्राप्त था। प्राचीन काल में उनकी शारीरिक संरचना से अधिक महत्त्व उनकी कला एवं कार्य निपुणता को दिया जाता था। वे नृत्य, गायन, अभिनय, नाई, केशसज्जा, मालिस तथा गृह सेवक आदि के क्षेत्र में कार्य करते हुए समाज के अंग के रूप में अपना योगदान देते थे।



लेखक रंगकर्मी और प्राध्यापक हैं।
+918218405797
vickysingh4675@gmail.com



थर्ड जेण्डर समुदाय की अवस्थिति प्राचीन काल से ही भारतीय समाज में रही किन्तु दुर्भाग्यवश थर्ड जेण्डर समुदाय को हाशियाकृत जीवन जीने के लिए विवश होना पड़ा। विशेष शारीरिक संरचना, व्यवहार तथा मनोविज्ञान के अनुसार थर्ड जेण्डर पर वैदिक साहित्य में उनकी उत्पत्ति के कारण, विविध प्रकार, व्यवहार, समस्याएँ तथा व्यवसाय आदि पर विचार किया गया है। विश्व स्तर पर वैदिक साहित्य प्राचीनतम ज्ञान स्रोत के रूप में जाना जाता है। इनकी प्राचीनता लगभग 1500 बीसी से 500 बीसी मानी जाती है। वैदिक साहित्य से प्रभावित भारतीय संस्कृति की श्रेष्ठता एवं विविधता ने सम्पूर्ण विश्व के विद्वानों को सदा से ही आकर्षित किया है। अन्य विशेषताओं के अतिरिक्त वैदिक साहित्य की एक और विशेषता है और वह है इसकी थर्ड जेण्डर जैसे परित्यक्त, उपेक्षित समाज की ओर मानवीय दृष्टि। वेदों में थर्ड जेण्डर समुदाय से सम्बन्धित नैतिक, सौन्दर्यात्मक, सामाजिक, राजनीतिक एवं आर्थिक इत्यादि पक्षों पर पर्याप्त रूप से दृष्टिपात किया गया है। ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद आदि चारों वैदिक ग्रन्थों

में विभिन्न प्रकरणों के माध्यम से सांस्कृतिक मूल्यों का प्रतिपादन किया गया। प्रत्येक वेद पर आधारित कुछ बृहदाकार तो कुछ लघु आकार ग्रन्थों की रचना परवर्ती कालों में हुई यथा-संहिताएँ, ब्राह्मण, अरण्यक तथा उपनिषद। अरण्यक एवं उपनिषदों को संहिताओं/ब्राह्मण का भाग माना जाता है। वेदांगों में शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरूक्त, छन्द, ज्योतिष आदि सम्बन्धी ज्ञान प्राप्त होता है। इसके अतिरिक्त प्रत्येक वेद के उपवेद भी हैं। वैदिक साहित्य में बहुत ही पारदर्शी रूप में मानव जीव-विज्ञान पर प्रकाश डाला गया है। वैदिक साहित्य में मानव लिंग व्यवस्था को प्रकृति के अनुरूप तीन भागों में विभाजित किया गया है, प्रथम पुरुष, द्वितीय स्त्री तथा तीसरा तृतीय प्रकृति। (स्वेतवस्त्र उपनिषद, गल्वा 108) तृतीय प्रकृति के लोगों को व्यापक रूप में नपुंसक लिंग के रूप में नामित किया गया। नपुंसक पुनः पांच उप भेदों में नामित किए गये-1. बच्चे 2. वृद्ध 3. नपुंसक 4. अविवाहित 5. तृतीय प्रकृति। इन सभी को वैदिक परिभाषाओं के अनुसार नपुंसक माना गया तथा संरक्षित माना गया और माना गया कि इनसे भाग्योदय होता है।



ऋग्वेद में किन्नर :-ऋग्वेद में थर्ड जेण्डर का उल्लेख मिलता है जब इन्द्र स्वयं को स्त्री रूप में परिवर्तित कर लेते हैं- (ऋग्वेद 1.51.13)

सप्तम ब्राह्मण में यह सिद्ध किया गया है कि इन्द्र वृषणव की पत्नी बने। (शतपथ ब्राह्मण: 3.3.4.18)

ऋग्वेद में थर्ड जेण्डर से सम्बन्धित एक और कथा मिलती है। वह यह है कि प्रायोगिक का पुत्र ईश्वर द्वारा शापित होने के बाद स्त्री बन जाता है। (ऋग्वेद 8.33.19)

सूक्त -10 में भी नपुंसकता वश नियोग की अनुमति का उल्लेख मिलता है। [यह सूक्त यम-यमी अर्थात् पति पत्नी का संवाद है। पति नपुंसक होने की अवस्था में पत्नी को नियोग के लिए आज्ञा देता है।

ब्राह्मण ग्रन्थ :-वेदों के पश्चात् ब्राह्मण ग्रन्थों का प्रचलन भारत में रहा। आर्यों के बढ़ते प्रभाव के साथ-साथ यज्ञों एवं कर्मकाण्डों में वृद्धि होती गयी और इनका विधान अत्यन्त जटिल होता गया। यज्ञों तथा उनसे सम्बन्धित विधान एवं प्रक्रियाओं को समझने, समझाने तथा आने वाली पीढ़ियों के लिए उस ज्ञान को संरक्षित रखने की दृष्टि से वेदों पर आधारित ब्राह्मण ग्रन्थों की रचना हुई। प्रत्येक वेद की शाखा के अनुसार भिन्न-भिन्न ब्राह्मण ग्रन्थ रचे गये। ऋग्वेद के दो-ऐतरेय और कौषीतकि भेद हैं। ऐतरेय विशेष प्रसिद्ध है। इसमें 40 तथा कौषीतकि में 30 अध्याय हैं। सामवेद से सम्बन्धित कई ब्राह्मण पुस्तकें रची गयीं परन्तु सर्वाधिक प्रसिद्धि प्राप्त की ताण्डन्य ने, जिसमें 2 अध्याय हैं। इसे पंचविश के रूप

में भी जाना जाता है। गोपथ ब्राह्मण अथर्ववेद का ग्रन्थ है। शुक्ल यजुर्वेद से सम्बन्धित ब्राह्मण ग्रन्थ है शतपथ ब्राह्मण। शतपथ ब्राह्मण (7-5-2-32) में अश्वमुखी मानव शरीर वाले, मानवसार में गरुडमुखी, मानव शरीर और पशुपति, जबकि कुछेक ग्रन्थों में मत्स्य धड़ में महिलामुख का वर्णन है।

किरातार्जुनीय :-महाकवि भारवि ने अपने ग्रन्थ किरातार्जुनीय के हिमालय वर्णन खण्ड (पाँचवाँ सर्ग, श्लोक 17) में किन्नर, गन्धर्व, यक्ष तथा अप्सराओं आदि देव-योनियों के किन्नर देश में निवास होने का वर्णन किया है। वायु पुराण में महानील पर्वत पर किन्नरों का निवास बताया गया है।

मत्स्यपुराण एवं वायुपुराण:-मत्स्यपुराण में किन्नरों का निवास हिमवाण पर्वत बताया गया है। डॉ. कन्हैया लाल माणिक लाल मुंशी ने हिमाचल प्रदेश के एक क्षेत्र में किन्नरों का निवास बताया। महाभारत के नायक अर्जुन द्वारा धवलगिरी को लांघ किंपुरुष देश, जहाँ किन्नरों का वास था, पर विजय प्राप्त करने उल्लेख मिलता है। पुराणों में किन्नर देवी गायक कश्यप की सन्तान और हिमालयवासी बताए गये। वायुपुराण के अनुसार किन्नर अश्वमुखों के पुत्र थे। उनके अनेक गण थे और वे गायन और नृत्य में पारंगत थे। किन्नरों के गेजेटियर में भी किन्नर का विस्तार से ऐतिहासिक और सांस्कृतिक उल्लेख किया गया है।

मनुस्मृति-हिजड़ों से सम्बन्धित विवरण मनुस्मृति में भी प्राप्त होता है। दैत्यदानवयक्षाणां गन्धर्वोरगरक्षसाम्। सुपर्ण किन्नराणां च स्मृता

बर्हिषदौत्रिजाः।।3.196।। अर्थात् अत्रि के पुत्र बर्हिषद दैत्य, दानव, यक्ष, गन्धर्व, नाग, राक्षस, सुपर्ण और किन्नरों के पितर हैं।।।(मनु-स्मृति-तृतीयोध्याय)

आदिकाल में प्रमुख रूप से ये जातियाँ थीं-देव, दैत्य, दानव, राक्षस, यक्ष, गन्धर्व, किन्नर, नाग आदि। देवताओं को सुर तो दैत्यों को असुर कहा जाता था। देवताओं की अदिति, तो दैत्यों की दिति से उत्पत्ति हुई। दानवों की दनु से तो राक्षसों की सुरसा से और गन्धर्वों की उत्पत्ति अरिष्टा से हुई। इसी तरह यक्ष, किन्नर, नाग आदि की भी उत्पत्ति मानी गयी है।

कामसूत्र:-कामसूत्र चौथी शताब्दी का ग्रन्थ है। कामसूत्र में तृतीय प्रकृति का भी पर्याप्त मात्रा में उल्लेख है। इस ग्रन्थ में किन्नरों को 'तृतीय प्राकृति' का नाम दिया गया है। हिन्दू मान्यताओं के अनुसार इन्हें न तो पुरुष और न ही पूर्ण नारी का स्थान दिया गया है। उनके व्यवसाय भी अलग रहे, जैसे मालिश करना, केश सवारना, घरेलू नौकर, फूल विक्रेता, राज परिवारों में रानियों की सुरक्षा इत्यादि। कामसूत्र के पाँचवें अध्याय के पृष्ठ सं. 173 पर हिजड़ों के सम्बन्ध में किसी एक आचार्य का मत व्यक्त किया जाता है-

'भिन्नत्वात्तृतीय प्रकृतिः पश्चिमीत्येक। तृतीय प्रकृतिर्नपुंसकः स्त्रीत्वपुंस्त्वाभावादिभ्यते।।27।।

निष्कर्षतः निवेदन यही किया जा सकता है कि वर्तमान सामाजिक व्यवस्था के विपरीत वैदिक काल में थर्ड जेण्डर समुदाय को न तो समाज से बहिष्कृत किया जाता था और न ही दंडित किया जाता था। उन्हें समाज में गृह स्थापना, विवाहित रूप में एक साथ रहना तथा सामाजिक व्यवहारों में सहभागिता के साथ जीवन यापन करने का अधिकार अन्य मानवों की तरह ही प्राप्त था। प्राचीन काल में उनकी शारीरिक संरचना से अधिक महत्त्व उनकी कला एवं कार्य निपुणता को दिया जाता था, वे नृत्य, गायन, अभिनय, नाई, केशसज्जा, मालिश तथा गृह सेवक आदि के क्षेत्र में कार्य करते हुए समाज के अंग के रूप में अपना योगदान देते थे। उन्हें सामाजिक क्रियाकलापों, विवाह, जन्म तथा अन्य कार्यक्रमों में सहभागिता की पूरी अनुमति थी और उनकी उपस्थिति को शुभ माना जाता था। □

अधिकार संरक्षण या अधिकार हनन

आवरण कथा

प्रमोद मीणा

विधेयक के मूल मसौदे में बिना आमूलचूल परिवर्तन के ही पिछले साल 17 दिसम्बर को राफेल पर जारी हो हल्ले के बीच सरकार ने इसे लोकसभा में जल्दबाजी में अपने संख्या बल के सहारे पारित करवा दिया। यद्यपि राज्यसभा में प्रबल विरोध के चलते सरकार इसे पारित नहीं करवा सकी और उसका कार्यकाल खत्म हो जाने से अन्ततः यह भी कुछ अन्य प्रतिगामी विधेयकों की तरह खारिज हो गया।



लेखक महात्मा गाँधी केन्द्रीय विश्वविद्यालय, मोतिहारी के मानविकी और भाषा संकाय में सहआचार्य हैं।
+917320920958
pramodmeena@mgcub.ac.in



हमारे संविधान के तमाम प्रगतिशील प्रावधानों के बावजूद हमारा राष्ट्र राज्य विपरीत लिंगियों (ट्रांस जेंडरों) को राष्ट्र की मुख्य धारा में आज तक शामिल नहीं कर पाया है। और सबसे बड़ी विडम्बना देखिए कि इन विपरीत लिंगियों के अधिकारों के संरक्षण हेतु पिछली एनडीए सरकार जिस विधेयक को संसद से पारित कराना चाहती थी, उसे इन विपरीत लिंगियों और विपक्ष की तरफ से जबर्दस्त प्रतिरोध का सामना करना पड़ा। 'दि ट्रांसजेंडर पर्सन्स (प्रोटेक्शन ऑफ राइट्स) विधेयक' सर्वप्रथम 2016 में लोकसभा के पटल पर रखा गया था और इसके मूल में था 2014 का सर्वोच्च अदालत का एक आदेश। राष्ट्रीय विधि सेवा प्राधिकरण (नालसा) बनाम भारत संघ वाले एक मुकदमे में अपना निर्णय सुनाते हुए देश की सबसे ऊँची अदालत ने केन्द्र और राज्य सरकारों को दिशा निर्देश दिया था कि ये सरकारें विपरीत लिंगी समुदाय के कल्याण हेतु अपेक्षित कदम उठाएँ। अदालत ने संविधान के भाग तीन के तहत उनके अधिकारों के संरक्षण हेतु उन्हें 'अन्य' संज्ञा

की जगह थर्ड जेंडर (तृतीय लिंग) के रूप में मान्यता देने की बात भी कही थी।

इस देश के 4.8 मिलियन विपरीत लिंगियों के मानवाधिकारों पर अदालत की स्वीकृति की मुहर के माथने बहुत दूर तक जाने थे लेकिन सामाजिक न्याय और अधिकारिता मन्त्रालय की तरफ से तत्कालीन कबीना मन्त्री श्री थावर चन्द गहलोत ने अगस्त, 2016 में विपरीत लिंगियों के अधिकारों के संरक्षण वाला जो विधेयक लोकसभा में पेश किया, वह इस समुदाय के लोगों के अधिकारों का संरक्षण करने की जगह इनके जीवन और आजीविका पर ही चोट करने वाला था। संसद के अन्दर और बाहर सड़कों पर इस विधेयक का जिस प्रकार विरोध हुआ, उसके चलते सामाजिक न्याय और अधिकारिता वाली संसद की स्थायी समिति के पास व्यापक विचार-विमर्श हेतु इसे भेजना पड़ा था। इसके बाद होना तो यह चाहिए था कि इस विधेयक से प्रभावित होने वाले समुदाय के साथ और मानवाधिकार कार्यकर्ताओं के साथ व्यापक परामर्श उपरान्त नालसा फैसले के अनुरूप विधेयक में अपेक्षित

संशोधनों के साथ ही उसे पुनः लोकसभा में रखा जाता। लेकिन विधेयक के मूल मसौदे में बिना आमूलचूल परिवर्तन के ही पिछले साल 17 दिसम्बर को राफेल पर जारी हो हल्ले के बीच सरकार ने इसे लोकसभा में जल्दबाजी में अपने संख्या बल के सहारे पारित करवा दिया। यद्यपि राज्यसभा में प्रबल विरोध के चलते सरकार इसे पारित नहीं करवा सकी और उसका कार्यकाल खत्म हो जाने से अन्ततः यह भी कुछ अन्य प्रतिगामी विधेयकों की तरह खारिज हो गया। लेकिन 2019 के आम चुनावों में भाजपा और एनडीए को मिले अभूतपूर्व जनादेश उपरान्त पुनः अपने पुराने मन्त्रालय में काबीना मन्त्री बनाये गये थावरचन्द गहलोत 'दि ट्रांसजेण्डर पर्सन्स (प्रोटेक्शन ऑफ राइट्स) विधेयक, 2018' को उसके मूल मसौदे के साथ पारित कराने को लेकर संकल्पबद्ध नजर आते हैं। ऐसे में एक बार पुनः विपरीत लिंगियों में आशंका के बादल उमड़ने-घुमड़ने स्वाभाविक हैं।

नालसा निर्णय में सर्वोच्च अदालत ने माना था कि हर व्यक्ति को अपने स्तर पर अपनी यौन अभिरुचि की स्वतः पहचान और अभिव्यक्ति का अधिकार है। अदालत ने उस मामले में निर्णय दिया था कि संविधान प्रदत्त नागरिकों के मौलिक अधिकारों पर विपरीत लिंगियों का भी बराबर का हक बनता है। विपरीत लिंगियों के लिए थर्ड जेण्डर संज्ञा का प्रयोग करते हुए इनके लिए शिक्षा और रोजगार आदि में आरक्षण जैसे सकारात्मक कदमों की अनुशंसा के साथ-साथ समाज कल्याण की विविध योजनाओं में भी इनके लिए विशेष प्रावधान रखे जाने पर बल दिया था।

ध्यातव्य है कि नालसा फैसले को नजीर की तरह लेते हुए उसके आलोक में विपरीत लिंगियों के लिए पृथक कानून बनाने की पहल प्रगतिशील सामाजिक आन्दोलनों की द्रविड़ राजनीति का प्रतिनिधित्व करने वाले राजनीतिक दल-द्रविड़ मुन्नेत्र कडगम (डीएमके) के राज्यसभा सदस्य तिरुचि सिवा द्वारा की गयी थी। दिसम्बर, 2014 में उन्होंने 'दि राइट्स ऑफ ट्रांसजेण्डर पर्सन्स विधेयक, 2014' को निजी विधेयक के रूप में राज्य

सभा में पेश किया और यह राज्य सभा से पारित भी हो गया था किन्तु लोकसभा में इस पर सरकार ने कभी चर्चा तक नहीं करवायी। सिवा इसके कि विधेयक में विपरीत लिंगियों के लिए संघ और राज्यों के स्तर पर आयोग बनाने का प्रावधान था। विपरीत लिंगियों के अधिकारों के लिए विशेष अदालतों की स्थापना पर भी बल दिया गया था। किन्तु विपरीत लिंगियों के साथ होने वाले लैंगिक भेदभावों और उत्पीड़नों पर रोक लगाने वाले इस विधेयक के महत्वपूर्ण प्रावधानों का सम्मान 2016 और 2018 के एनडीए वाले विधेयकों में नहीं किया गया।

2018 में लोकसभा से पारित विधेयक में 2016 वाले विधेयक की तुलना में विपरीत लिंगियों की पहचान का दायरा किंचित रूप से बढ़ा दिया गया है। इस विधेयक के अनुसार विपरीत लिंगी व्यक्ति वह है जो "आंशिक रूप से स्त्री या पुरुष होता है, अथवा जो स्त्री और पुरुष का मिश्रण होता है, अथवा जो न स्त्री होता है, ना पुरुष होता है।" यहाँ द्रष्टव्य है कि नालसा फैसले और 2014 के मूल विधेयक में समाज द्वारा स्थापित विपरीत लिंगियों की कलंकित-लाञ्छित पहचान को जड़ से मिटा देने पर बल था लेकिन 2018 का विधेयक विपरीत लिंगियों के प्रति विद्यमान पूर्वाग्रही कलंकित-लाञ्छित पहचान पर वैधानिकता की मुहर लगाने का प्रयास करता है। यह विधेयक मनुष्य जाति को मूलतः दो ही लिंगों-पुरुष और स्त्री में देखे जाने का आग्रही है और विपरीत लिंगियों को इस मानक-लैंगिक द्वैत से विचलन के रूप में देखता है। विपरीत लिंगियों के अन्तर्गत यह विधेयक लिंग परिवर्तित स्त्री-पुरुषों, द्विलिंगियों और समलैंगिकों को समाहित करता है किन्तु इनमें से किसी को भी परिभाषित करने की जहमत नहीं उठाता।

नालसा फैसले और 2014 वाले मूल विधेयक में अपनी लैंगिक पहचान तय करने का अधिकार व्यक्ति को दिया गया था और इस सन्दर्भ में किसी चिकित्सकीय जाँच का कोई प्रावधान नहीं रखा गया था। लेकिन 2018 वाला विधेयक विपरीत लिंगी के रूप में पहचाने जाने का दावा करने वाले व्यक्ति

के लिए यह अनिवार्य कर देता है कि वह एक जिला स्तरीय अनुवीक्षण समिति के समक्ष पेश होकर अपनी चिकित्सकीय जाँच कराये और अपेक्षित प्रमाणपत्र प्राप्त करे। विपरीत लिंगी की पहचान से जुड़ा यह प्रमाणपत्र जिला न्यायधीश इसी अनुवीक्षण समिति की अनुशंसा पर जारी करेगा। इस समिति में पाँच सदस्य रखे जाने का प्रावधान यह विधेयक करता है-एक चिकित्सा अधिकारी, एक मनोविश्लेषक या मनोचिकित्सक, जिला कल्याण अधिकारी, एक सरकारी अधिकारी और एक विपरीत लिंगी व्यक्ति। स्पष्ट है कि यह विधेयक अपने लिंग की स्वतः पहचान का अधिकार व्यक्ति को नहीं देता।

2018 का विधेयक स्त्री या पुरुष के रूप में किसी विपरीत लिंगी की पहचान के दावे को मान्यता देने के लिए पुनः लिंग निर्धारक शल्य क्रिया को अनिवार्य घोषित करता है। यहाँ सर्वोच्च अदालत की परवाह भी यह विधायक नहीं करता क्योंकि सर्वोच्च अदालत ने लिंग के निर्धारण के लिए व्यक्ति को इस प्रकार की शल्य क्रिया हेतु बाध्य करने को अनैतिक और गैर कानूनी ठहराया है।

यह विधेयक शिक्षा, रोजगार और स्वास्थ्य सेवाओं में विपरीत लिंगियों के साथ होने वाले भेदभावों को प्रतिबन्धित करता है। इसके साथ-साथ यह केन्द्र और राज्य सरकारों को निर्देशित भी करता है कि वे अपनी कल्याणकारी योजनाओं में विपरीत लिंगियों का भी ख्याल रखें। लेकिन नालसा फैसले के विपरीत यह विधेयक शैक्षणिक संस्थानों और सरकारी नौकरियों में विपरीत लिंगियों के लिए आरक्षण के प्रावधानों पर चुप्पी लगा जाता है जबकि सर्वोच्च अदालत ने नालसा फैसले में विपरीत लिंगियों को सामाजिक-शैक्षणिक रूप से पिछड़े वर्ग का नागरिक बताते हुए उन्हें सभी प्रकार के आरक्षण का हकदार घोषित किया था। शैक्षणिक संस्थानों में प्रवेश से लेकर सरकारी नियुक्तियों तक में उनके लिए आरक्षण की अनुशंसा की थी।

विधायक का एक कमजोर पहलू यह है कि विपरीत लिंगियों के लिए स्वास्थ्य सेवाओं में आनुपातिक बजटीय प्रावधान नहीं

किये गये हैं। इन स्वास्थ्य सेवाओं में विपरीत लिंगियों हेतु उठाये गये विशेष कदमों पर निगरानी रखने और उत्तरदायित्व तय करने की भी कोई स्पष्ट योजना यह विधेयक सामने नहीं रखता।

2018 का विधेयक विपरीत लिंगियों के अधिकारों के संरक्षण हेतु एक राष्ट्रीय परिषद की स्थापना की बात करता है लेकिन राज्य और जिले के स्तर पर ऐसी किसी परिषद का उल्लेख तक नहीं करता। 33 सदस्यों वाली राष्ट्रीय परिषद का भारी-भरकम स्वरूप भी एक अलग समस्या है जो इस परिषद की निष्क्रियता का हेतु साबित हो सकता है।

यह विधेयक विपरीत लिंगियों को भीख माँगने या बन्धुआ मजदूरी के लिए बाध्य करने को अपराध घोषित करता है। लेकिन विपरीत लिंगी समुदाय के व्यक्ति का कटु यथार्थ यह है कि सामाजिक बहिष्कार और सम्मानजनक वैकल्पिक रोजगार के अभाव के कारण उन्हें मजबूरी में बध्नाई गाना पड़ता है और बख्शीश के लिए जद्दोजहद भी करनी पड़ती है। वास्तव में भिक्षावृत्ति पर रोक तभी लग सकती है जब सरकार समाज को विपरीत लिंगियों के प्रति संवेदनशील बनाने की मुहिम चलाए और साथ ही इनके लिए रोजगार की सम्मानजनक सम्भावनाओं का सृजन करे। बॉम्बे भिक्षावृत्ति रोकथाम अधिनियम, 1959 के अनुभव यह बताते हैं कि विपरीत लिंगियों को भिक्षावृत्ति से रोकने के नाम पर इस बात की पूरी आशंका है कि पुलिस द्वारा पुनर्वास के बहाने इन्हें भिक्षुक गृहों या नजरबन्दी में डाला जा सकता है।

2018 का यह विधेयक जहाँ भीख माँगने के लिए विपरीत लिंगियों को अपराधी ठहराता है, वहीं यह भी सुनिश्चित करने का प्रयास करता है कि ये लोग या तो अपने घरों में रहें या पुनर्वास केन्द्रों पर रहें। लेकिन व्यवस्थापिका को याद रखना चाहिए कि विपरीत लिंगियों को अबोध शिशु समझना गलत है। इनके आने-जाने और रहवास पर नियन्त्रण रखना इनके साथ गुलामों सरीखा व्यवहार करना ही कहा जाएगा। अपनी लैंगिक पहचान तय करने के साथ-साथ अपने रहने का स्थान तय करने का निर्णय भी इनका खुद का ही होना चाहिए। हमें याद रखना

चाहिए कि एक विपरीत लिंगी बच्चा अपनी खुशी से अपने परिजनों का घर नहीं छोड़ता। घरवालों के द्विलिंगी पूर्वाग्रह ही उसे घर छोड़ने को बाध्य करने वाले होते हैं। यह भी प्रायः देखा जाता है कि इस प्रकार के परित्यक्त विपरीत लिंगी बच्चे को अपने समुदाय के वयस्कों के यहाँ ही आश्रय मिलता है। अतः ऐसे आश्रय स्थलों को अवैध और गैर कानूनी नहीं ठहराया जा सकता।

अपने क्षुद्र आनन्द के लिए विपरीत लिंगियों के साथ दैहिक, यौनिक, मौखिक, भावनात्मक और आर्थिक दुर्व्यवहार करने वाले लोगों को और सार्वजनिक स्थल या रिहाइशी इलाके में इनके आने-जाने और ठहरने पर रोक लगाने वाले लोगों को दंडित करने की व्यवस्था भी इस विधेयक में है। लेकिन विपरीत लिंगियों के साथ इस प्रकार के भेदभाव और उत्पीड़न के लिए जिस सजा का प्रावधान है, वह बहुत कम है। इस प्रकार के अपराधों के लिए मात्र छह महीने से लेकर दो साल तक के कारावास और आर्थिक दण्ड की बात यह विधेयक करता है।

विपरीत लिंगियों का यौन उत्पीड़न और बलात्कार आम है और समाज की असंवेदनशीलता देखिए कि वह इन अपराधों को अपराध ही नहीं मानता है। भारतीय दण्ड संहिता में भी बलात्कार को पुरुष और स्त्री के बीच घटित होने वाले अपराध के रूप में ही परिभाषित किया गया है जिसमें पुरुष और स्त्री क्रमशः अपराधी और पीड़िता के रूप में देखे जाते हैं। किन्तु इस विधेयक में बलात्कार विरोधी कानूनी संरक्षण के दायरे में विपरीत लिंगियों को भी लाने का कोई प्रयास नहीं किया गया है जबकि बलात्कार की स्वीकृत द्विलिंगी परिभाषा के चलते आज भी विपरीत लिंगियों के लिए अपने साथ हुए बलात्कार को साबित करना आसान नहीं होता है।

व्यक्ति की स्वनिर्धारित लैंगिक अस्मिता को स्वीकारने की जगह यह विधेयक इस प्रकार के निर्णय का अधिकार सरकार द्वारा निर्धारित समितियों को देकर लैंगिक अस्मिताओं की मुक्ति और सशक्तिकरण पर सरकारी पहरा लगाने का काम करता है। व्यक्ति की

स्वायत्तता और अपनी देह पर उसके अधिकार और नियन्त्रण की अवहेलना करने वाले इस विधेयक के खिलाफ विपरीत लिंगियों की लामबन्दी स्वाभाविक है।

एक और समस्या इस विधेयक के साथ यह है कि इसमें नागरिक अधिकारों को विपरीत लिंगियों के लिए उपलब्ध कराने पर अपेक्षित बल नहीं दिया गया है। विवाह, सम्बन्ध विच्छेद, दत्तक अधिकार, पैतृक सम्पत्ति में अधिकार और साझेदारी के अधिकार आदि तक इनकी पहुँच सुनिश्चित करने के लिए जरूरी कदम नहीं उठाये गये हैं। इस प्रकार स्त्री-पुरुष के रूप में अन्य नागरिकों को प्राप्त नागरिक अधिकारों से ये लोग वंचित ही रह गये हैं।

विधेयक में विपरीत लिंगियों को थर्ड जेण्डर के रूप में स्वीकार तो कर लिया गया है किन्तु विषमलिंगी यौन सम्बन्धों से इतर यौन सम्बन्धों को अब भी धारा 377 के तहत अपराध ही माना जाएगा। जरूरत इस बात की थी कि 2018 वाला यह विधेयक धारा 377 के नाम पर विपरीत लिंगियों के प्रेम और विवाह को अनैतिक और गैर कानूनी ठहराने पर लगाम लगाता किन्तु इस तरह की कोई प्रगतिशीलता दिखाने का साहस यह विधेयक नहीं करता है। स्पष्ट है कि धारा 377 के कारण इस विधेयक के कानून बन जाने के बाद भी विपरीत लिंगियों को पूर्ववत् कानून का पालन कराने वाली एजेंसियों के हाथों उत्पीड़न का शिकार होना पड़ेगा।

अस्तु, ऐतिहासिक रूप से विपरीत लिंगियों के साथ कथित सामान्य लिंगियों द्वारा जो भेदभाव होता आया है और जो पूर्वाग्रह इनके प्रति विद्यमान रहे हैं, उन सब पर रोक लगाने की जगह 'दि ट्रांसजेण्डर पर्सन्स (प्रोटेक्शन ऑफ राइट्स) विधेयक' 2018 अधिकांश आधारभूत अधिकारों से इन लोगों को वंचित ही रखने का काम करता है। हिन्दुत्व की भगवा राजनीति करने वाली भाजपा के नेतृत्व वाली वर्तमान एनडीए सरकार भी हिन्दू धर्म में स्वीकृत बहुमुखी लैंगिकताओं को नकारते हुए विपरीत लिंगियों की विशिष्ट लैंगिक अस्मिता का सम्मान करने को तैयार नजर नहीं आती। □

दृश्य श्रव्य माध्यमों में समलैंगिकता के मुद्दे

अनिल शर्मा

हिन्दी के रंगमंच और सिनेमा से यही उम्मीद है कि वे अपने-अपने कला-माध्यमों की बेहतर तकनीक और युक्तियों के सहारे उस दर्शकीय मनोभूमि का निर्माण कर सकेंगे जो कॉमिकपने और तमाम तरह की उपदेशात्मकता से परे विशुद्ध रूप से 'मानवीय' हो, मानव को मानव के रूप और स्तर पर ही देखने की दृष्टि को पुख्ता करती हो और जो अप्राकृतिक-सी लगने वाली शारीरिक भंगिमा या पहनावे के बाहरी आवरण को चीरते हुए 'भीतर' की बात देख-सुन और गुन सके।



लेखक जाकिर हुसैन कॉलेज, दिल्ली में हिन्दी के प्राध्यापक हैं।
+919899096251
anilsharma.zhc@gmail.com



दृश्य-श्रव्य माध्यम होने के कारण रंगमंच और सिनेमा दोनों प्रभावकारिता को सघन बनाने में सक्षम हैं। इस रूप में ये दोनों माध्यम पिछले वर्षों से अस्तित्व के लिए संघर्ष कर रही तीसरी आबादी और समलैंगिकों की सामाजिक स्वीकार्यता के पक्ष में थोड़ा-बहुत काम करते हुए इनके जीवन-नाटक को दर्शकों के समीप ले जाकर, उसे समझने और महसूस करने की राह बनाते दिख रहे हैं।

हिन्दी रंगमंच में पहला नाम मछिन्दर मोरे के लिखे 'जानेमन' का आता है जिसकी सर्वाधिक प्रस्तुतियाँ वामन केन्द्रे के निर्देशन में हुईं। वामन केन्द्रे ने अपने कई साक्षात्कारों में यह बात कही है कि इस प्रस्तुति को देखने के बाद दर्शक उनके पास बड़ी संख्या में पहुँचकर बताते हैं कि तृतीयलिंगियों को लेकर उनकी रूढ़िवादी और संकुचित दृष्टि, उदारता में तब्दील हो गयी। लखनऊ की भारतेन्दु नाट्य अकादमी में सुशील कुमार सिंह के निर्देशन में यह नाटक 'जानेमन इधर' नाम से मंचित हुआ। नाटक तृतीयलिंगियों की सामाजिक-आर्थिक स्थिति, मजबूरियों-दुश्वारियों को मार्मिक ढंग से दिखलाते हुए दर्शकों को झकझोरता है।

रजनीश कुमार गुप्ता के 'प्रश्नचिन्ह' नाटक का उल्लेख भी मिलता है जिसमें तृतीयलिंगी समुदाय की पीड़ा, जीवन-संघर्ष और आजीविका की समस्या का चित्रण है। प्रभाकर श्रोत्रिय का 'इला' नाटक मिथकीय कथा पर केन्द्रित है, जो मुख्य रूप से स्त्री-विमर्श और प्रकृति से छेड़छाड़ की बात के साथ ही, जन्मना स्त्री और गढ़े गये पुरुष की मनःस्थिति की ऊहापोह को दर्शाता है। अलग-अलग कोणों और व्याख्याओं के साथ कल्पनाशील रंगकर्मियों ने इस नाटक के मंचीय प्रयोग किये हैं। हैप्पी रणजीत द्वारा निर्देशित 'ए स्ट्रेट प्रपोजल' वर्तमान भारत के राजनीतिक परिदृश्य में समलैंगिकों की समस्याओं और सम्भावनाओं के विषय में बात करते हुए प्रेम, मृत्यु, रहस्य और सत्य जैसे मुद्दों से दो-चार होता है। एक डायरी को आधार बनाते हुए सारे दृश्यों को पेज नंबर और तारीख के साथ दर्शाया गया। हर तारीख एलजीबीटी आन्दोलन से और पेज नम्बर भारतीय दण्ड संहिता के अनुच्छेद से जुड़े थे। नाटक मानवीय स्तर पर हरेक की समानता के मुद्दे को सशक्त ढंग से उठाता दिखा। नन्दकिशोर आचार्य ने अपने नाटक 'जिल्ले सुब्हानी' में मध्ययुगीन इतिहास में ऐसे

समलैंगिक चरित्रों की मौजूदगी दिखायी है जो सत्ता के समीप रहकर उसके निर्धारक-परिवर्तक थे, शाही दरबार और हरम तक में इनका खासा हस्तक्षेप था। शिखण्डी के मिथक को केन्द्र में रखकर भी अँग्रेजी-हिन्दी में कई प्रस्तुतियाँ हुई हैं। गोदरेज थिएटर फेस्टिवल में प्रस्तुत अस्मिता थिएटर ग्रुप की एकल-अभिनय प्रस्तुति 'अहसास', एक ऐसी युवा लड़की की हालतबयान करती है जो समलैंगिक के प्रति प्रेम और भावनाएँ महसूस करती है और समाज का रवैया उसकी हदें बाँधना चाहता है। मार्च 2019 में, केरल में भारत का पहला एलजीबीटी थिएटर ग्रुप आरम्भ हुआ है जिसका नाम 'क्यू रंग' है। इसी समुदाय के लोगों द्वारा मिलकर बनाये गये ग्रुप ने अपनी गतिविधियों के माध्यम से समाज की संकीर्ण सोच को बदलने की ठानी है। तीसरी आबादी और समलैंगिकता पर सर्वाधिक काम नुककड़ नाटकों का है जो इन मुद्दों पर अपेक्षाकृत अधिक सक्रियता से, खुलकर बात करते हैं। नाट्य-दलों के साथ कैम्पस थियेटर के अन्तर्गत इस दिशा में 'आँखें खोल देने वाले' काफी प्रदर्शन हुए हैं।

मुख्य धारा का व्यावसायिक हिन्दी सिनेमा मसाला फिल्मों के लिए जाना जाता है जिनमें तृतीयलिंगियों और समलैंगिकों को कामुक, कॉमिक या 'विलेन' भूमिकाओं में रखने का चलन रहा है। यह चलन 1990 के बाद शुरू हुआ जो आज भी जारी है। हिन्दी सिनेमा में पहली बार महेश भट निर्देशित 'सड़क' फिल्म में सदाशिव अमरापुरकर ने एक वेश्यालय चलाने वाली ट्रांसजेण्डर खलनायिका 'महारानी' का रोल किया। इस दिशा में 'शबनम मौसी' सही मायनों में ऐसी फिल्म है जो तृतीयलिंगियों की भावनाओं और हक की बात करती है। यह एक आत्मकथात्मक फिल्म है जिसमें भारत की पहली तृतीय लिंग विधायक शबनम की वास्तविक जीवन-कथा को केन्द्र में रखते हुए हिजड़ों की सामान्य जीवन जीने, ऑफिस में काम करने, बच्चे होने जैसी इच्छाओं को उभारा गया। शबनम का राजनीतिक संघर्ष और विधायक बन जाने के बाद समाज की भलाई के लिए किये गये कार्यों को भी फिल्म में दर्शाया गया। 'वेलकम टू सज्जनपुर' में भी एक तृतीयलिंगी को राजनीतिक चुनाव जीतते हुए दिखाया गया है। अमोल पालेकर निर्देशित 'दायरा' फिल्म में निर्मल

पाण्डेय ने एक ऐसे ट्रांसजेण्डर का रोल किया जो एक बलात्कार पीड़िता की मदद करते हुए संकीर्ण पहचानों से ऊपर उठकर इंसानी रिश्तों के प्रेम को निभाता है। 'तमन्ना' में परेश रावल ने एक ऐसे तृतीयलिंगी का रोल किया जो पूर्व फिल्म अभिनेत्री की सन्तान है, फिल्मों में केश-सज्जा और मेक-अप करके वह अपनी माँ के निराश्रित बुढ़ापे का सहारा बनता है, अपनी माँ के दाह संस्कार से लौटते समय कूड़ेदान में पड़ी एक नवजात लावारिस बच्ची उठा लाता है, अपने समुदाय का विरोध झेलते हुए भी उसे पालता-पोसता और बोर्डिंग स्कूल में शिक्षित करता है, बच्ची के बड़े होने पर उसके द्वारा अपने 'हिजड़ेपन' के कारण दुत्कारा भी जाता है, फिर भी वह उसके असली माँ-बाप तक पहुँचाने की कोशिश में, मान-सम्मान वाले राजनेता पिता से दुत्कारे जाने पर, अपनी जान पर खेलकर उसे बचाता है। अन्ततः वह लड़की असली माता-पिता द्वारा स्वीकारे जाने पर भी पालनकर्ता 'माँ' अर्थात् 'हिजड़े' के पास रहना पसन्द करती है। यह फिल्म तृतीयलिंगियों के प्रति संवेदनात्मक रुख दिखाती है कि उनमें सामान्य इंसानों से कहीं अधिक संवेदनशीलता और जिम्मेदारी का भाव-बोध होता है। कल्पना लाजमी निर्देशित 'दरमियाँ' फिल्म एक परित्यक्त तृतीय लिंगी की संवेदनशीलता और मानवीयता की कहानी को मार्मिक ढंग से कहती है। इन फिल्मों के अलावा 'बुलेट राजा' में रविकिशन ने उभयलिंगी और महेश मंजरेकर ने 'रज्जो' फिल्म में वेश्या-कोठे पर 'बेगम' के रूप में तृतीयलिंगी चरित्र की भूमिका निभायी। 'क्वीन्स! डेस्टिनी ऑफ डांस' में सीमा बिस्वास ने ट्रांसजेण्डर मुक्ता का रोल किया। 1991 में 'मस्त कलन्दर' फिल्म में पहला समलैंगिक चरित्र 'पिंकू' मिलता है जो अनुपम खेर ने निभाया था। किन्तु इस पुरुष चरित्र में स्त्रैणता को हास्यास्पद तरीके से ही दिखाया गया था। 'योर्स इमोशनली', 'आई एम' भी 'गे' मुद्दे पर रुढ़िवादी विचारों के विरुद्ध खुलकर बात करती दिखी। 'फायर' और 'गर्लफ्रेंड' फिल्म लेस्बियन-मुद्दे पर केन्द्रित फिल्में हैं। 'अलीगढ़', 'कपूर एन्ड संस' समलैंगिकता के मुद्दे के फेवर में दिखीं। तीसरी आबादी और समलैंगिकों को बेहतर ढंग से दिखाने वाली फिल्मों के मुकाबले बहुत बड़ी संख्या उन फिल्मों की है जो ऐसे चरित्रों को फूहड़ता के साथ पेश करते हुए सस्ते

मनोरंजन का माध्यम मानती हैं। 'क्या कूल हैं हम', 'पार्टनर', 'स्टाइल', 'मस्ती' जैसी तमाम फिल्मों में इन चरित्रों को निहायत ही असभ्य ढंग से चित्रित किया गया है जो 'सामान्य इंसान' की हदों में तो बिलकुल भी नहीं आता।

सारी आधुनिकता के बावजूद हमारे समाज में तृतीय लिंग और समलैंगिकता के विषय पर घोर रुढ़िवादिता है जो कानूनी आधार मिल जाने पर भी टूटी नहीं है। शिक्षा के साथ ही दृश्य-श्रव्य माध्यम इस दिशा में सन्तुलित-स्वस्थ दृष्टि बनाने में सहायक हो सकते हैं। हिन्दी रंगमंच और फिल्मों ने यह काम बहुत देर से शुरू किया और जो काम हो भी रहा है वह असन्तोषजनक और अपर्याप्त है। अधिक दर्शक संख्या वाले मुख्य धारा के व्यावसायिक सिनेमा ने इन मुद्दों पर कम ही बात की है और गम्भीर दृष्टिकोण वाले वैकल्पिक सिनेमा को वे दर्शक नहीं मिलते जो समाज के आम तबके के हों। रुढ़िवादी सामाजिक सोच के चलते इस प्रकार की फिल्मों से विवाद भी बड़ी आसानी से जुड़ जाते हैं। यह विडम्बना ही है कि 'पिंक मिरर' जैसी कुछेक ऐसी फिल्म भी बनी है जो राष्ट्रीय-अन्तरराष्ट्रीय फिल्म महोत्सवों में तो प्रदर्शित हुई किन्तु विषय और फिल्मांकन की 'बोल्डनेस' के कारण उनका सार्वजनिक प्रदर्शन नहीं हुआ। हालाँकि इस बात से यहाँ इंकार नहीं किया जा रहा कि धीरे-धीरे तथाकथित सभ्य समाज के हाशिये से बाहर रखे गये तृतीय लिंग और समलैंगिक मुद्दों का रंगमंच और फिल्मों की दुनिया में 'स्पेस' बढ़ रहा है। गति बहुत धीमी है। वस्तुतः इन मुद्दों को दबा-छिपाकर रखने से काम नहीं चलेगा, बात खुलकर करनी पड़ेगी, इतनी सावधानी से कि कहीं वह अश्लीलता या छिछोरेपन के दायरे में न आ जाए।

इस संक्षिप्त विश्लेषण के बाद हिन्दी के रंगमंच और सिनेमा से यही उम्मीद है कि वे अपने-अपने कला-माध्यमों की बेहतर तकनीक और युक्तियों के सहारे उस दर्शकीय मनोभूमि का निर्माण कर सकेंगे जो कॉमिकपने और तमाम तरह की उपदेशात्मकता से परे विशुद्ध रूप से 'मानवीय' हो, मानव को मानव के रूप और स्तर पर ही देखने की दृष्टि को पुख्ता करती हो और जो अप्राकृतिक-सी लगने वाली शारीरिक भंगिमा या पहनावे के बाहरी आवरण को चीरते हुए 'भीतर' की बात देख-सुन और गुन सके। □

हिन्दी सिनेमा में तृतीयलिंगी

आवर्ण कथा

पुखराज जाँगिड़

लैंगिक अक्षमता को मानवीय कमजोरी के रूप देखनेवाली फिल्मों का मूल सामंती और पितृसत्तात्मक मर्दवादी सोच है। इसलिए जरूरत तृतीयलिंगी की उस संघर्ष-चेतना को स्वाभाविक रूप देने की है, जिसमें उनकी अस्मितापरक लैंगिक पहचान के साथ-साथ स्वतन्त्रता, समानता, बंधुता, शिक्षा, स्वास्थ्य, रोजगार और सामाजिक स्वीकृति गंभीर बहस का विषय बनें। एशिया की दो सर्वश्रेष्ठ तृतीयलिंगी फिल्मों, 'माई वे' व 'कॉमन जेंडर' के जन्म के मूल में अपनी पसंद (पुरुष या महिला) के शौचालय का उपयोग है। उत्तराधिकार का सवाल उसकी पहचान से जुड़ा है। संभव है आगे चलकर यहाँ जाति, वर्ग, धर्म के षडयंत्र देखने को मिले, लेकिन फिलहाल वे खुद को मनुष्य के रूप में देखने के आग्रही हैं।



लेखक युवा आलोचक और अनुवादक हैं।
+919968636833
pukhraj.jnu@gmail.com



“माननीय कलक्टर साहब, अभी भारतवर्ष में कौनों सोचने का बखत आ गया है कि हम हिजड़े भी इन्सान होते हैं, इन्सान, कौनों अजूबा नहीं। पुराणकाल का इतिहास उठाके देख लें, हम किन्नरों ने मेहनत मशक्कत करके समाज में अपना नाम कमाया है पर आज आपके राज में हम पर चारों तरफ से अत्याचार हो रहा है हुजूर! आज तो जानत हैं-हम सज्जनपुर से खड़ी हो रही हैं, लेकिन ये रामसिंह, उसका चाचा रामखिलावन और मामा रामसखा हमको बहुत धमकाए रहे हैं हुजूर-ऐसे जैसे हम कौनों रावण हों-कहते हैं-“अबे साले तू जन्मजात हिजड़ा है हिजड़ा, तुम लोगों को चुनाव में चुनाव में खड़े होने का कौनों हक नहीं है।” ये काहे है हुजूर? क्या हमारा दिल नहीं धड़कता? हमें कोई दुख तकलीफ नहीं होती? हमारी आँखों से आँसू नहीं गिरते हैं? फिर काहे सब हमसे इतनी नफरत करत है? अरे हम भी उसी परमात्मा की देन हैं, जिसके सब हैं। तुरन्त हमारी सुरक्षा की व्यवस्था की जाए हुजूर ताकि चुनाव आसानी से हो सके। आपकी और सबकी-मुन्नीबाई मुखन्नी।”

श्याम बनेगल निर्देशित 'वेलकम टू

सज्जनपुर' (2008) की मुन्नीबाई की यह चिट्ठी तृतीयलिंगी की सामाजिक अवस्थिति, स्वाभिमानी संघर्ष और नवाचार की अदम्य चाह व संकटों को दर्शाती है। हिन्दी सिनेमा के तृतीयलिंगीसंवेदी हिस्से को सामने लाती है। अन्य कला-माध्यमों की तरह सिनेमा में भी तृतीयलिंगी-उपस्थिति प्रायः स्टीरियोटाइप रही (गढ़ी गई) है। अक्सर तृतीयलिंगीयता को समलैंगिकता से भी जोड़कर देखा जाता है, जो सिद्धान्ततः सही नहीं है। दोनों की प्रकृति अलहदा है, एक जैविक है तो दूसरी परिस्थितिजन्य।

सौ बरस का हिन्दी सिनेमा दर्जनभर अच्छी तृतीयलिंगीसंवेदी फिल्में क्यों नहीं दे पाया? इसपर बात करते समय याद रखना चाहिए कि सिनेमा कला के साथ-साथ उद्योग भी है। इसमें सृजनात्मकता और व्यावसायिक हित, दोनों का ध्यान रखना पड़ता है। भारतीय राजनीति में शबनम मौसी के उभार के बाद जब तृतीयलिंगी विषय बाजार की माँग बना तो उसपर क्रमशः (अच्छी और बुरी) कई फिल्में आई अन्यथा इससे पहले तो वह हंसी-मजाक और उपहास का विषयमात्र रहा है।

3 मई 1913 को प्रदर्शित भारतीय सिनेमा की दूसरी ही फिल्म 'राजा हरिश्चंद्र' में रानी तारामती का किरदार एक पुरुष अण्णा हरि सालुंके ने निभाया। उन्होंने 'लंका दहन' (1917) में नायक और नायिका दोनों का किरदार निभाया। ऊपरी तौर पर ये चरित्र तृतीयलिंगी लग सकते हैं पर ऐसा है नहीं। धार्मिक चरित्रों के प्रभाव व सालुंके की अभिनय-क्षमता के चलते दर्शकों का ध्यान लैंगिकता की ओर नहीं गया और बात वहीं खत्म हो गई। पहली तृतीयलिंगी चरित्र/जीवन आधारित फिल्म बनने में छह दशक लग गए।

हिन्दी सिनेमा में तृतीयलिंगी की पहली महत्वपूर्ण उपस्थिति ए.पी. नागराजन निर्देशित तमिल फिल्म 'नवरात्रि' (1964) की हिन्दी रिमेक ए. भीमसिंह निर्देशित 'नया दिन नयी रात' (7 मई 1974) में मिलती है। इसे संजीव कुमार अभिनित जिन नौ भूमिकाओं के लिए जाना जाता है, उनमें से एक तृतीयलिंगी फूलकंवर और उनकी नाट्यमंडली है। मुख्य बात रोजगारजीवी फूलकंवर का समाज के साथ सम्बन्ध है। लालची ठेकेदार का उनके साथ रिश्ता पूर्णतः पेशेवराना है। वह 'जुआरी की बीवी' के मंचन के लिए ठेकेदार से अग्रिम भुगतान लेती हैं और जरूरत पड़ने पर अपनी 'बहन' के यौनशोषण की कोशिश पर उसकी पिटाई पर भी करती हैं। टिकट बिक चुके हैं पर नायिका अस्वस्थ है।

दर्शकों को 'गंवार' और 'उपभोक्ता' मात्र समझनेवाला ठेकेदार विशुद्ध सेठ है, कलाप्रेमी नहीं। मंचन न होने की स्थिति में वह फूलकंवर व उसकी मंडली को मारपीट की धमकी देता है। संयोग से इसी दौरान बेहोशी की स्थिति में फिल्म की मुख्य-नायिका की भेंट उनकी मंडली से होती है, वे उसकी सेवा करते हैं और बदले में वह उन्हें नाट्य-संकट से मुक्ति दिलाती है। उनके 'दीदी, जाने से पहले हमे सबको राखी बाँधकर जाना' सरीखे स्नेहिल आग्रह से दोनों (स्त्रीलिंग और तृतीयलिंग) में बहनापा स्थापित होता है। यह बहनापा नायिका को ठेकेदार की बुरी नियत और उसके गुणों के सामूहिक हमले से बचाता है। रोजगारजीवी तृतीयलिंगी-नाट्यमण्डली की मानवीयता फिल्म का सर्वाधिक सशक्त पहलू है। नाट्यमंचन के दौरान फूलकंवर हास्यपरक अंदाज में जिस तलखी से बीमारू समाज की चीरफाड़ करती

हैं, उससे समाज की नब्ज पर उनकी पकड़ दृष्टिगत होती है। दुर्योग से तृतीयलिंगी चरित्रों के लिए निर्मित इस ऊर्वर जमीन का लाभ आगामी फिल्म में उठा न सकीं और स्टीरियोटाइप चित्रण तक सीमित रहीं।

'नया दिन नयी रात' के लगभग दो दशक बाद आई महेश भट्ट निर्देशित 'सड़क' (3 दिसम्बर 1991) उस दौर की फिल्म है, जब तृतीयलिंगी को मतदान का अधिकार तक मयस्सर न था (मताधिकार उन्हें सन् 1994 में मिला) और वे स्त्री या पुरुष के रूप में मतदान के लिए बाध्य थे। फिल्म की केन्द्रीय चरित्र महारानी (सदाशिव अमरापुरकर) एक ऐसी नकारात्मक तृतीयलिंगी हैं, जिनकी बादशाहत सभी स्वीकारते हैं। द्विलिंगी समाज द्वारा टुकड़ाई महारानी, आतंक के दम पर उनपर अपना दबदबा कायम करती है। यथार्थ जीवन से खाद-पानी पाती महेश भट्ट की फिल्म में प्रायः नये और चौंकानेवाले विषयोंवाली होती है। शबनम मौसी का उभार उस समय नया व चौंकानेवाला विषय था, जिसे उन्होंने हाथोंहाथ लिया और 'सड़क' दूरगामी प्रभाव वाली फिल्म सिद्ध हुई।

'सड़क' का तृतीयलिंगी खलनायक स्टीरियोटाइप नहीं था औ यह उसकी सफलता का बड़ा कारण था। महारानी यौन-शोषण में असमर्थ हैं पर स्त्रियाँ उससे खौफजदा हैं, क्योंकि वह चकलाघर चलाती हैं। 'हिजड़ा' और 'नामर्द' सरीखे शब्द उसे भी तोड़ते हैं-'लोगों ने मुझे नामर्द कहा, हिजड़ा कहा! लेकिन मैं इस सच को कभी नहीं बदल पायी कि मैं हिजड़ा हूँ' और 'यहाँ का राजा, इस जिस्म के बाजार का राजा, और नाम, महारानी...' सरीखे संवादों से उसकी मानसिक उठापटक को समझा जा सकता है।

अमोल पालेकर निर्देशित 'दायरा : द स्ववायर सर्कल' (12 सितम्बर 1996) का मूल द्वन्द्व दो जीवनदृष्टियों का टकराव है। एक ओर रूढ़िवादी पितृसत्तात्मक मर्दवादी अहम् है तो दूसरी ओर मनुष्यता में यकीन रखने वाला तृतीयलिंगी स्वाभिमान। पहली बार टॉरटो फिल्मोत्सव में प्रदर्शित इस फिल्म के संगीत की तारीफ करते हुए 'टाइम मैगजीन' ने इसे 1996 की सर्वश्रेष्ठ फिल्मों में एक बताया था। फिल्म को राष्ट्रीय फिल्म पुरस्कार का विशेष ज्युरी सम्मान मिला और निर्मल पांडे के

अभिनय को सभी ने सराहा।

सन् 1975 की मुम्बई माहिम की सत्यघटना पर आधारित महेश भट्ट निर्देशित 'तमन्ना' (7 मार्च 1997) तृतीयलिंगी जीवन पर आधारित सर्वश्रेष्ठ फिल्म है। यह तृतीयलिंगियों को खुद से दूर करते भारतीय समाज की नब्ज टटोलते हुए तीनों लिंगों के आपसी सहभाव को समाधान के रूप में चिह्नित करती है। मूलतः तृतीयलिंगी (टीकू) और स्त्रीलिंग (तमन्ना) के सहभाव पर आधारित यह फिल्म बताती है कि अगर सभी सामाजिक अस्मिताएँ एकजुट और लिंगसंवेदी हो जाए तो बेहतर दुनिया का निर्माण संभव है। अपना लैंगिक सच छिपाते टिकू की अनाथ तमन्ना की परवरिश और उसे अपने पास न बुला पाने की छटपटाहट उसके व्यक्तित्व को विराटता, तृतीयलिंगी समुदाय को मानवीय आधार व स्वीकार्यता प्रदान करती है। इसे सामाजिक मुद्दों पर आधारित सर्वश्रेष्ठ फिल्म का राष्ट्रीय पुरस्कार मिला और परेश रावल आज भी टीकू के दमदार अभिनय के लिए याद किए जाते हैं।

मुम्बईया फिल्म-उद्योग के अंधेरे पक्ष को उजागर करती कल्पना लाजमी निर्देशित 'दरमियाँ : इन बिटवीन' (28 नवंबर 1997) में तृतीयलिंगी इम्मी (आरिफ जकारिया) की अस्पष्ट लैंगिकता और सामाजिक भय के कारण उसकी माँ (किरण खेर) न तो उसे अपनाना चाहती, न छोड़ना चाहती है और न ही उसे उसकी लैंगिक-स्थिति बताती है। लिंग-असंवेदी समाज जब इम्मी की मर्दानगी को चुनौती देता है (स्त्री की तरह तृतीयलिंगी को भी भोग्या के रूप में देखा जाता रहा है) तो अपनी अस्पष्ट लैंगिकता के कारण दुनिया से अधिक वह खुद के सामने शर्मसार होती है। इस कशमकश का सीधा असर उसके व्यक्तित्व पर पड़ता है पर वह अपनी आपा को नहीं छोड़ती और आजीवन उनका संबल बनी रहती है और उसका यही संवेदनशील और संघर्षचेता व्यक्तित्व फिल्म को प्रभावशाली बनाता है।

इम्मी उसी समाज में रहना चाहता है, जिसमें वह पैदा हुआ है पर पारिवारिक और सामाजिक अस्वीकार्यता के चलते उसे लगता है कि आपा (माँ) ने मुझे पैदा होते ही हिजड़ों को क्यों नहीं दे दिया? जब वह तृतीयलिंगी समाज से जुड़ने में भी असमर्थ रहता है तो उसे लगता है कि 'अब मेरी जगह न इस दुनिया

में है और न ही हिजड़ों की दुनिया में, दोनों के दरमियाँ हूँ मैं।' माँ के निधन के बाद इम्मी का उनकी लाश से चिपके रहना इम्मी की त्रासदी को बखूबी बयाँ करता है। फिल्म बताती है कि नाच-गाना, भीख माँगना और यौनकर्म तब उनकी मजबूरी बन जाता है, जब समाज उन्हें विकल्प देने को तैयार नहीं होता। इम्मी बारम्बार इससे रूबरू होती है और सिवाय अवज्ञा, अपमान और त्रासदी के उसे कुछ नहीं मिलता पर वह हार नहीं मानती और स्वाभिमान-रक्षार्थ तथाकथित मुख्यधारा और तृतीयलिंगी समाज, दोनों से लड़ती है। उसकी यही मनःस्थिति, अन्तर्द्वन्द्व और संघर्षचेता प्रकृति फिल्म की ताकत है।

तृतीयलिंगी जीवन पर आधारित जिस फिल्म का लोगों ने बेसब्री से इंतजार किया, वह थी योगेश भारद्वाज निर्देशित 'शबनम मौसी' (20 मई 2005)। यह भारतीय लोकतन्त्र की पहली तृतीयलिंगी विधायक शबनम मौसी के उस स्वाभिमानी व्यक्तित्व पर आधारित थी, जिसने बीसवीं सदी के अन्तिम दशक में पूरी दुनिया को तृतीयलिंगी समुदाय के बारे में और तृतीयलिंगी समुदाय को खुद अपने बारे में सोचने के लिए विवश कर दिया था। वे 1998 से 2003 तक सोहागपुर (मध्य प्रदेश) की विधायक रहीं और अब लैंगिक अधिकारों और लिंगसंवेदी समाज के लिए संघर्षरत हैं। 'हम औलाद पैदा नहीं कर सकते, लेकिन हम अनाज पैदा कर सकते हैं। पढ़-लिखकर डॉक्टर, इंजीनियर, अध्यापक, कलागुरु तो बन सकते हैं' सरीखे उनके विजन से प्रेरणा लेकर बहुतेरे तृतीयलिंगी शिक्षा और राजनीति से जुड़े, 'जीती जिताई राजनीति' (जेजेपी) नामक पहली तृतीयलिंगी राजनीतिक पार्टी बनाई और फिर भुला दी गई। रूपहले परदे पर शबनम मौसी के किरदार को जीनेवाले आशुतोष राणा को सबने सराहा फिल्म ने वैसे तो निराश किया पर देशभर में तृतीयलिंगियों के संकटापन्न जीवन को चर्चा के केंद्र में लाने में यह सफल रही।

श्याम बेनेगल निर्देशित 'वेलकम टू सज्जनपुर' (18 सितंबर 2008) की मुन्नीबाई एक आदर्श तृतीयलिंगी है। बतौर तृतीयलिंगी पहला हमला उसकी 'लैंगिकता व पहचान' पर होता है, दूसरा हमला उसकी 'मनुष्यता' पर होता है और तीसरा हमला उसके 'पेशे' पर होता है। पहले दो हमले (लैंगिकता और मनुष्यता)

तो वह आजन्म झेलती रही है पर तीसरा हमला- 'मुन्नीबाई चुनाव छोड़ दे, नहीं तो ढोलक फाड़के रख देंगे' डरानेवाला है। मुन्नीबाई लोकतन्त्र और उसकी चुनावी प्रक्रिया की ताकत को समझती हैं और खुद पर हुए पहले हमले का जवाब वह जमुनाबाई और रामसिंह के आतंक के खिलाफ खड़े होकर देती है। आर्थिक बदहाली के बावजूद वह महादेव को चुनावी गीत लेखन के लिए 'एडवांस पेमेंट' करना नहीं भूलती, जबकि विरोधी रामसिंह इसके लिए पैसा देना तो दूर, गीतकार को डराता, धमकाता और गरियाता है। यह घटना मुन्नीबाई पर हुए दूसरे हमले का नितांत संवेदनशील जवाब है, जो उसे 'लोकशाही' व 'मनुष्यता' के और रामसिंह को 'सामंतशाही' व 'अमनुष्यता' के प्रतीक के रूप में स्थापित करती हैं। तथाकथित सामंतों की मर्दानगी एक तृतीयलिंगी की चुनावी-जीत बर्दाश्त नहीं कर पाती और हर बार की तरह इस बार भी उनका शिकार एक कमजोर होती है (इस बार वह स्त्रीलिंगी नहीं, तृतीयलिंगी है)। सज्जनपुर के तालाब के किनारे पड़ा मुन्नीबाई का क्षत-विक्षत शरीर ही अन्ततः महादेव और हम सबको यह कहने का साहस देता है कि "मुन्नीबाई अब एमएलए होकर विधानसभा में तूफान मचाए हैं।"

तृतीयलिंगी सिनेमा प्रतीकों के प्रभावशाली उपयोग के लिए भी जाना है, उदाहरण के लिए 'वेलकम टू सज्जनपुर' में 'हिजड़ा' शब्द ही बदलाव, नवाचार, संघर्ष और मनुष्यता का प्रतीक बन जाता है। जब सारा गाँव जमुनाबाई के आतंक के सामने घुटने टेक अपनी नपुंसकता सिद्ध करता है, तब तृतीयलिंगी मुन्नीबाई उनसे लोहा लेती है। जमुनाबाई राजनीति के अपराधीकरण की प्रतीक हैं तो रामसिंह, रामखिलावन और रामसखा नामों के प्रतीकार्थों से निर्देशक सत्ता और धर्म के कुचक्र को भेदने में सफल रहे हैं। 'नवाचारी' मुन्नीबाई 'हस्ताक्षर' करती है तो 'रूढ़िवादी' रामसिंह और जमुनाबाई 'अंगुठा' लगाते हैं।

ऐसा नहीं है कि हिन्दी सिनेमा के इतिहास में सिर्फ उपर्युक्त फिल्मों में ही तृतीयलिंगी चरित्र आए हैं। तृतीयलिंगी चरित्र हमेशा से हिन्दी सिनेमा का हिस्सा रहे हैं पर पहले वह विशुद्ध हास्य और मनोरंजन का विषय थे (अब भी हैं), पर उपर्युक्त फिल्मों के बाद तृतीयलिंगी

चरित्रों को मजाक का विषय बनाना आसान न रहा और यही इन फिल्मों की ताकत है। समय के साथ उनके प्रति सिनेमाई ट्रीटमेंट में बदलाव आया है। शुरूआती प्रस्तुतीकरण विशुद्ध मनोरंजन तक सीमित था। बाद में उनके बाहरी संघर्ष उभरकर सामने आए। अब वह उनके भीतरी संघर्षों तक पहुँचने की कोशिश में जुटा है। संभव है, आगे चलकर हमें बेहतर तृतीयलिंगी सिनेमा देखने को मिले।

नये दर्शकों को उसी दौर में बनी कमल हासन निर्देशित 'चाची 420' (1997) और कीर्ति कुमार निर्देशित 'आंटी नंबर वन' (1998) सरीखी लोकप्रिय फिल्में पहली नजर में तृतीयलिंगी जीवन पर आधारित फिल्में लग सकती हैं पर ऐसा है नहीं, वह वेषभूषा-बदलाव और हास्यान्तरण मात्र है। हालाँकि इन फिल्मों की सफलता ने तृतीयलिंगी चेहरे को चर्चा और स्वीकृति का विषय बनाया, लोकप्रिय सिनेमा में उनके लिए जगह बनाई, और फिर तृतीयलिंगी का तो सारा संघर्ष ही सामाजिक स्वीकार्यता का है।

इस बीच हमें यह भी नहीं भूलना चाहिए कि लिंगविरोधी समाज में नकारात्मक तृतीयलिंगी भूमिकाओं वाली 'सड़क' (1991), 'मर्डर 2' (2011) और 'रज्जो' (2013) सरीखी फिल्में बेहद डरानेवाली हैं, क्योंकि ये समाज में फैली तृतीयलिंगी-विरोधी धारणाओं को पोषित करती हैं और इस बात से तृतीयलिंगी समाज भलीभाँति अवगत है। उनके ऐसी फिल्मों के पुरजोर विरोध का मूल कारण यही है। तनुजा चंद्रा निर्देशित 'संघर्ष' के लज्जा शंकर पांडे ऊपरी तौर पर तृतीयलिंगी नजर आता है पर असल में वह तनुजा चंद्रा की ही पूर्ववर्ती फिल्म 'दुश्मन' के गोकुल पंडित की ही तरह अंधविश्वासी, मानसिकरोगी और पेशेवर हत्यारा है। लिंगसंवेदी सामाजिकी और शिक्षा से इनमें बदलाव सम्भव है।

तृतीयलिंगी सिनेमा बताता है कि एक तृतीयलिंगी में स्त्रीलिंग की संवेदना और पुल्लिंग का साहस, दोनों समाहित हैं और लैंगिक-अक्षमता किसी से उसकी मनुष्यता नहीं छिन सकती। द्विलिंगी मुख्यधारा की असंवेदनशीलता के बावजूद उन्होंने मनुष्यता का दामन नहीं छोड़ा। अधिकांश पात्र स्वाभिमानी हैं और इसके लिए वे तथाकथित मुख्यधारा और तृतीयलिंगी समाज, दोनों से लड़ते हैं। □

किन्नरों के जीवन का सच

आवरण कथा

सुशील कुमार

कुल मिलाकर समाज के मन-मस्तिष्क में इन तृतीयलिंगियों के प्रति जो धारणा बनी हुई है उसे बदलने की आवश्यकता है। यह महसूस करने की आवश्यकता है कि ये भी इंसान हैं। हिजड़ा या छक्का आदि सम्बोधनों से पुकारा जाना भी एक तरह से इनका उपहास है। इनको भी इंसान समझा जाए। इनको मुख्य धारा में जगह और प्रत्येक स्तर पर अधिकार मिले, सरकार की तरफ से इसका सटीक प्रयास होना चाहिए।



लेखक जम्मू विश्वविद्यालय, जम्मू, हिन्दी विभाग में शोधार्थी हैं।
+919596654568
sushel25991@gmail.com



स्त्री और पुरुष के अतिरिक्त हमारे समाज में एक और लिंग के लोग रहते हैं जिन्हें समाज में छक्का, हिजड़ा, किन्नर, मामू, बायक्का, थर्ड जेंडर, तृतीय लिंगी, उभयलिंगी, आदि के नामों से जाना जाता है। यह तृतीय लिंगी समाज हाशिये पर जीवन जीते हुए अपनी अस्मिता और जीवन दोनों को बचाने के लिए जद्दोजहद कर रहा है। हिन्दी साहित्य में पिछले कई वर्षों से हाशिये पर जीवनयापन कर रहे किन्नर समाज पर लिखा जा रहा है। इक्कीसवीं सदी में तो किन्नर समाज को केन्द्र में रखकर बहुत अधिक साहित्य लिखा गया है और लगातार लिखा जा रहा है। इन सारे साहित्य को यदि परखा जाए तो इनमें हमें किन्नरों के जीवन के सामाजिक यथार्थ की छवि साफ नजर आएगी। समाज में हाशिये पर जीवन व्यतीत करने वाले इन उभयलिंगी लोगों को साहित्य में पहचान मिली ही साथ ही आज कुछ हद तक इन्हें समाज में भी सम्मान मिला है, फिर भी इनका जीवन आज भी संघर्षों से घिरा हुआ नजर आता है। जहाँ एक ओर सड़कों, बस स्टॉपों, ट्रेनों आदि में भीख माँगते हुए इनके संघर्ष को देखा जा सकता है वहीं दूसरी ओर एक टोली बनाकर

नाच-गाने के रूप में घर-घर जाकर बधाई माँगते हुए भी उन्हें पाया जा सकता है। यह तृतीयलिंगी समुदाय आज न केवल हाशिये पर जीवन व्यतीत कर रहा है बल्कि एक मनुष्य होने के वाबजूद दायम दर्जे का जीवन जीने को मजबूर है।

किन्नर समाज के लोग अपनी अलिंगी देह को लेकर जन्म से मृत्यु तक अपमानित, तिरस्कृत और संघर्षमयी जीवन व्यतीत करते हैं तथा आजीवन अपनी अस्मिता की तलाश में ठोकरें खाते हैं। हिन्दी साहित्य में लिखी आत्मकथाओं में देखने पर सहज ही ज्ञात होता है कि इन किन्नरों का जीवन कितना कठिन और संघर्ष से भरा है। 'मैं पायल' उपन्यास में यह गीत किन्नरों के सामाजिक यथार्थ को दर्शाने की दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है—'अधूरी देह क्यों मुझको बनाया/ बता ईश्वर तुझे ये क्या सुहाया/ किसी का प्यार हूँ न वास्ता हूँ/ न तो मंजिल हूँ मैं न रास्ता हूँ/ कि अनुभव पूर्णता का हो न पाया/ अजब खेल यह रह-रह धूप छाया'। किन्नर जीवन पर केन्द्रित इस गीत में उनकी मार्मिक की पीड़ा का बयान साफ दिखाई देता है। किन्नर गुरु पायल सिंह के

वास्तविक जीवन और उनके द्वारा किये गये संघर्ष पर आधारित इस उपन्यास में पूरे किन्नर समाज के यथार्थ को साफ देखा जा सकता है। उपन्यास में पायल तीखा सवाल उठाते हुए साफ कहती है 'हमें किन्नर नहीं, इंसान समझा जाए'।

बस उनकी इतनी सी माँग है कि वे मुख्यधारा से जुड़कर रहना चाहते हैं। वे समाज में अपनी हिस्सेदारी चाहते हैं। देश के विकास में वे भी अपना योगदान सुनिश्चित करना चाहते हैं। लेकिन मुख्यधारा का समाज ऐसा होने देना नहीं चाहता। समाज में इनके लिए जो धारणा बनी हुई है वह जस की तस विद्यमान है। तभी तो इनका यथार्थ अँधेरे से घिरा हुआ दिखाई देता है जिसे उजाले में लाने के लिए ये संघर्ष कर रहे हैं। 'मैं हिजड़ा मैं लक्ष्मी' आत्मकथा किन्नरों के सामाजिक यथार्थ, उनके संघर्ष और उस संघर्ष के माध्यम से समाज में अपनी एक

कारण है समाज का इनके प्रति नकारात्मक दृष्टिकोण।

साथ ही पुलिस तन्त्र हिजड़ों को अलग परेशान करता है, उन्हें रातों-रात उठाकर ले जाता है, किन्नर अचानक कैसे गायब हो जाते हैं और काफी खोजबीन के बाद उसकी लाश मिलती है, हिजड़ों की जिन्दगी से जुड़ी इन तथ्यों को भी बारीकी से देखने की जरूरत है।

'पुरुष तन में फंसा मेरा नारी मन' आत्मकथा में सोमनाथ एक ऐसा पुरुष है जिसने जन्म तो एक पुरुष के रूप में लिया किन्तु उसका मन, भावनाएँ और इच्छाएँ स्त्री जैसी हैं। इसी से उसे अपने जीवन में हिजड़ा, लौंडा, बृहन्नला आदि उपहासास्पद शब्दों का सामना करना पड़ता है। स्कूल में सहपाठियों द्वारा उसे चिढ़ाना, उसके बाद कॉलेज और नौकरी में भी इसी तरह का व्यवहार इनके सामाजिक यथार्थ के परिचायक हैं। ए रेवती की 'हमारी कहानियाँ हमारी बातें'

बस उनकी इतनी सी माँग है कि वे मुख्यधारा से जुड़कर रहना चाहते हैं। वे समाज में अपनी हिस्सेदारी चाहते हैं। देश के विकास में वे भी अपना योगदान सुनिश्चित करना चाहते हैं। लेकिन मुख्यधारा का समाज ऐसा होने देना नहीं चाहता। समाज में इनके लिए जो धारणा बनी हुई है वह जस की तस विद्यमान है। तभी तो इनका यथार्थ अँधेरे से घिरा हुआ दिखाई देता है जिसे उजाले में लाने के लिए ये संघर्ष कर रहे हैं।

खास पहचान बना लेने की सच्ची कहानी है। इस आत्मकथा में लक्ष्मी के बचपन से अब तक के सफर के यथार्थ को रखा गया है। बुलन्दी तक पहुँचने से पहले उसने जो संघर्ष किया, पीड़ा व दर्द सहा वह किन्नरों के वर्तमान सामाजिक यथार्थ को समझने की दृष्टि से बहुत महत्वपूर्ण है। छोटे होने पर अगर स्टेज पर नाचता था तो लोग उसे छक्का, मामू, बायक्का कहकर चिढ़ाते थे। स्कूल में जाने पर बच्चों द्वारा उससे गलत तरीके से छेड़ना व तंग करना, मानसिक तौर पर उसे नीचा दिखाना आदि बातें साक्ष्य हैं कि किन्नर का जीवन कैसे बीतता है।

किन्नरों के समक्ष पैसा कमाने के दो ही जरिये बचे हैं या तो भीख माँगना या फिर देह व्यापार। घर पर नाच गाने के लिए जाना और वहाँ पहुँच कर घर वालों से बधाई माँगना आसान नहीं है। साथ ही घर-परिवार के लोग इन्हें अपने घर में नहीं आने देना चाहते। इसका

किन्नर समाज पर लिखा एक ऐसा ग्रन्थ है जो स्वयं एक किन्नर की जुबानी हमारे समक्ष पहुँचाता है। किन्नर के रूप में रेवती का दर्द, उसकी पीड़ा, समाज में उसका उपहास और सामाजिक त्याज्य केवल उसकी ही नहीं बल्कि पूरे किन्नर समाज की स्थिति को रेखांकित करता है। स्कूल, कॉलेज, बस स्टैंड, कार्य स्थल, घर, समाज बल्कि यों कहें कि प्रत्येक जगह पर उनके जीवन के साथ साथ उनका संघर्ष चलता है।

इन आत्मकथाओं के अतिरिक्त हिन्दी में उपन्यासों के माध्यम से भी किन्नरों के सामाजिक यथार्थ को अभिव्यक्ति मिली है। भगवंत अनमोल कृत जिन्दगी 50-50, प्रदीप सौरभ कृत तीसरी ताली, निर्मला भुराड़िया कृत गुलाम मण्डी, चित्रा मुदगल कृत नाला सोपारा, महेन्द्र भीष्म कृत किन्नर कथा, आदि कई उपन्यासों में किन्नर जीवन के दर्द, पीड़ा के साथ ही उनके

प्रति सहानुभूति की अभिव्यक्ति हुई है। इन सभी लेखकों ने अपनी लेखनी के माध्यम से उनके लिए सामाजिक न्याय की माँग की है ताकि ये किन्नर लोग भी मुख्यधारा की तरह ही एक सम्माननीय जीवन व्यतीत कर सकें।

वर्तमान समय में अगर गौर से से किन्नरों के समाज में जाकर देखा जाए या फिर किन्नरों के जीवन पर नजर दौड़ाई जाए तो साफ नजर आएगा कि इनकी अस्मिता संदिग्धता के घेरे में है। हालाँकि 21वीं सदी में इनको कुछ संवैधानिक अधिकार मिलें हैं जैसे थर्ड जेण्डर के रूप में मान्यता, समलैंगिक विवाह की मान्यता, आदि फिर भी इनका शोषण, सामाजिक तिरस्कार और उसके बाद जीवन के लिए की जा रही जद्दोजहद और संघर्ष कम होने का नाम नहीं ले रहा है। डा एम फिरोज खान सम्पादित पुस्तक 'थर्ड जेण्डर आत्मकथा और जीवन संघर्ष' की ये पंक्तियाँ दृष्टव्य हैं ' हिजड़ों की न आवाज है, ना नाम, ना परिवार, ना इतिहास, ना प्यार, ना सोच, ना खुशी, ना गम, ना हक, ना व्यक्तित्व। हिजड़े अदृश्य हैं, न केवल हमारे मुख्यधारा के समाज में बल्कि समाज के मन-मस्तिष्क के भीतर भी।'

वैसे आज हिजड़ों के प्रति व्यक्तिगत स्तर पर, मोहल्लों में, दफ्तरों में, सरकार की नीतियों में, और समाज के नजरिए में भी धीरे-धीरे बदलाव आ रहा है। जैसे तानिलनाडु की सरकार ने अब हर सरकारी पहचान पत्र चाहे वह राशन कार्ड हो या मतदान पत्र दोनों पर मर्द और औरत के साथ ही 'अन्य' लिखने का मौका दिया है। ऐसा ही अन्य राज्यों की सरकारों को करने की आवश्यकता है।

कुल मिलाकर समाज के मन-मस्तिष्क में इन तृतीयलिंगियों के प्रति जो धारणा बनी हुई है उसे बदलने की आवश्यकता है। यह महसूस करने की आवश्यकता है कि ये भी इंसान हैं। हिजड़ा या छक्का आदि सम्बोधनों से पुकारा जाना भी एक तरह से इनका उपहास है। इनको भी इंसान समझा जाए। इनको मुख्य धारा में जगह और प्रत्येक स्तर पर अधिकार मिले, सरकार की तरफ से इसका सटीक प्रयास होना चाहिए। समाज इनके जीवन संघर्ष, इनकी पीड़ा, दर्द, कराह, जद्दोजहद आदि को समझे और कम करने में योगदान दे। प्रत्येक नागरिक में संवेदना होनी चाहिए कि वह उन्हें एक मनुष्य की तरह सम्मान दे, उन्हें प्यार दे।

समलैंगिकों से संवाद

आवरण कथा

शैलजा टंडन

एक पुरुष की तरह व्यवहार करना अनिवार्य था न केवल नौकरी पाने के लिए, बल्कि नौकरी में बने रहने के लिए भी। एक आदमी होने के नाते उनका जीवन परिवार की आकांक्षाओं और अपेक्षाओं से जुड़ा हुआ है जो मुख्य रूप से विवाह के माध्यम से पूरा होता है। सामाजिक दबाव भी एक उत्प्रेरक का काम करता है। विवाह वंश और परिवार के नाम की निरन्तरता के लिए भी महत्त्वपूर्ण माना जाता है। खास बात यह है कि पौरुष का सवाल सम्पत्ति के सवाल से भी जुड़ा हुआ है।



लेखिका जेएनयू के राजनीति अध्ययन केन्द्र की शोध छात्रा हैं।
+919971555910
shailjatandon9@gmail.com



हम अक्सर औरत के सन्दर्भ में चर्चा करते हैं कि एक सम्पूर्ण औरत कैसी होनी चाहिए। इस विषय में सीता का उदाहरण अक्सर दिया जाता है। गुणों और अवगुणों की एक लम्बी लकीर खींच दी गयी हैं, नये जमाने की औरत कितनी भी ऊँचाई हासिल कर ले उसकी कामयाबी की तुलना एक अच्छी पत्नी या माँ होने से की जाती है। इन सब में पुरुष की भूमिका स्थिर है। लोक गीत हो, बॉलीवुड या हमारी परम्पराओं में मर्द के सन्दर्भ में मर्दाना क्या है या मर्द होना क्या होता है इसे प्राकृतिक समझा जाता है। एक उदाहरण के तौर पर अगर आप 'मस्कुलिनिटी' का अर्थ हिन्दी में जानना चाहेंगे तो उसका मतलब गूगल आप को 'बहादुरता' बताता है। मर्द होने का मतलब हमारी सोसाइटी में बहादुर, बलवान और पैसे कमानेवाला समझा जाता है। यही समझ पितृसत्ता की नींव है। कमजोर पुरुष पितृसत्ता के ढाँचे के लिए एक अहम खतरा है। सवाल यह है कि कमजोर पुरुष कौन होते हैं? वे जो कमाते नहीं या वे जो शारीरिक तौर पर मर्द नहीं लगते हैं। बॉलीवुड इस मामले में अपने में एक विज्ञान की तरह है। बॉलीवुड के नायकों

की एक झलक आप को बता देगी की मर्दाना होना क्या होता है। इसके साथ टेलिविजन में आने वाले धारावाहिकों में भी मर्द होने की शिक्षा खूब दी जाती है। इन सब से यह निष्कर्ष निकाला जासकता है कि हमारे समाज में मर्द होने का एक ही मतलब है—शक्तिशाली और मजबूत होना और जो पुरुष इस विवरण में सही नहीं बैठते हैं उनकी मर्दानगी पर सवाल उठाया जाता है।

गौर करने की बात यह है कि सवाल उठता किस तर्क पर है। सवाल उठता है मर्दानगी पर। पितृसत्ता के मुताबिक समाज में पुरुष एक ही तरह के हो सकते हैं जिसका विवरण ऊपर दिया है। इस विषय में समझना जरूरी हो जाता है कि मर्दानगी विभिन्न प्रकार की होती है। उसे जीने और महसूस करने के भिन्न तरीके हैं जिसकी सामाजिक भाषा में कोई जगह नहीं है। इन विभिन्न प्रकार की मर्दानगियों में से एक मर्दानगी ऐसी है जिसे अंग्रेजी भाषा में स्ट्रैण पुरुष और आप की रोज की भाषा में जनाना मर्द कहते हैं। सरकार की भाषा में स्ट्रैण पुरुष को एम एस एम (डैड) यानी उसे समलैंगिक माना जाता है।

यह एक मेडिकल शब्दावली है। सरकार के मुताबिक ऐसे लोगों में एचआईवी (एड्स) का सबसे ज्यादा खतरा रहता है। इस खतरे की वजह है समलैंगिक सम्बन्ध रखना, जब कि ऐसा निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता है। स्थानीय भाषा में ऐसे जनाना मर्द को कोठी कहते हैं, और अपना इसका भी एक इतिहास है।

इस जटिल समस्या को समझने के लिए मैंने जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय के राजनीतिशास्त्र विभाग में एक शोध किया है। इसी सिलसिले में लखनऊ शहर में सरकार द्वारा अधिरोपित चालीस एम एस एम पुरुषों का साक्षात्कार लिया।

2017 और 2018 के कुछ महीनो तक धारा 377 लागू था जिसके अनुसार समलैंगिक रिश्ते गैर कानूनी थे। समाज में इनकी स्वीकृति नहीं थी और यह माना जाता था कि यह एक तरह का पश्चिमी प्रभाव है और भारत में इसका कोई इतिहास नहीं है। लेकिन सच तो यह है कि समलैंगिक रिश्ते भारत के समाज में हमेशा रहे हैं। इसके इतिहास को जानने के लिए आप रुथ वनिता और सलीम किदवई की किताबें पढ़ सकते हैं। मैं इसका परिप्रेक्ष्य इस लिए बता रही हूँ ताकि यह समझा जा सके कि समाज के किसी हिस्से को अलग कर के उन पे एक कानून और परम्परागत सोच का बोझ डाल दिया जाए तो उनकी प्रतिदिन की जिन्दगी कैसे व्यतीत होती है।

मेरे पास एक प्रश्नमाला था जिसमें लगभग 26 सवाल थे। सवाल उनके निजी और आम जिन्दगी से जुड़े थे। जैसे कि उनकी पहचान, यौन अभिविन्यास को समझने की उनकी उम्र और 'बाहरआने' की प्रक्रिया (अगर कोई थी), उनके परिवार/दोस्तों की प्रतिक्रिया अगर वे जानते हैं तो, उनकी श्रेणियाँ, समलैंगिक और एमएसएम की समझ आदि। एम एस एम डैड की श्रेणी में आने पर क्या वे इसे उनके लिए उपयुक्त पाते हैं या क्या वे इसे अस्वीकार करते हैं, क्या उन्हें लगता है कि यह एक छिपी हुई पहचान है? वे काम के बारे में, पुलिस, सरकार, परिवार, दोस्तों, आदि के सम्बन्ध में अपने रोजमर्रा के जीवन में इस पहचान की बातचीत कैसे करते हैं? उनके रोजमर्रा के जीवन में उनके समर्थन तन्त्र क्या हैं? वे समाज और सरकार से क्या उम्मीद

करते हैं? वे धारा 377 के बारे में क्या सोचते हैं (तब ये कानून लागू था)?

अपने उत्तरदाताओं से बातचीत में एक दिलचस्प प्रतिक्रिया पता चली। स्त्रैण पुरुषों के लिए समाज के मुताबिक जनाना व्यवहार दिखाना और पुल्लिंग न होना उनकी मर्दांगनी पर सवाल उठाते हैं और उनको असामान्य माना जाता है। जिसके कारण उनका तिरस्कार और और उनके साथ भेदभाव होता है। इसके लिए उन लोगों ने बताया कि उन्हें अपने परिवार, दोस्तों, काम करने की जगह और पब्लिक में मर्द बनना पड़ता है। मर्दांगनी दिखाने के और भी कारण बताये। लखनऊ जैसे शहर में, जो विषमता और होमोफोबिया में गहराई से डूबा शहर है, कोठी को न केवल अस्तित्व में रहने के लिए एक आदमी बनना पड़ता है, बल्कि अपने और अपने परिवार की गरिमा का जीवन जीने के लिए कृत्रिम रूप से मर्दानगी दिखानी होती है। उनका यह व्यवहार अर्थव्यवस्था के सवाल से सीधे जुड़ा हुआ था। एक पुरुष की तरह व्यवहार करना अनिवार्य था न केवल नौकरी पाने के लिए, बल्कि नौकरी में बने रहने के लिए भी। एक आदमी होने के नाते उनका जीवन परिवार की आकांक्षाओं और अपेक्षाओं से जुड़ा हुआ है जो मुख्य रूप से विवाह के माध्यम से पूरा होता है। सामाजिक दबाव भी एक उत्प्रेरक का काम करता है। विवाह वंश और परिवार के नाम की निरन्तरता के लिए भी महत्वपूर्ण माना जाता है। खास बात यह है कि पौरुष का सवाल सम्पत्ति के सवाल से भी जुड़ा हुआ है।

मेरे उत्तरदाताओं में से अधिकांश लोगों ने कहा कि मर्द होने का मतलब है सक्रिय, कठोर और सख्त बनना। ये सभी विशेषण एक मर्द होने के साथ जुड़े हुए हैं और इस बात को निर्धारित करते हैं कि एक मर्द की तरह व्यवहार कैसे किया जाए। उनकी आन्तरिक भावनाओं और स्त्री व्यवहार को छिपाने के लिए पुरुषत्व का प्रदर्शन किया जाता है ताकि उनके पारिवारिक जीवन में किसी प्रकार का सन्देह पैदा नहीं हो। सुशील (नाम बदल दिया गया है) जो एक मेडिकल शॉप पर काम करता है, ने मुझे बताया कि एक आदमी के रूप में उसे सब कुछ बरकरार रखना था, 'मैंने शादी कर ली और बच्चे पैदा कर लिए। शुरू में मैंने विरोध किया क्योंकि मैं शादी नहीं

करना चाहता था। इससे मेरे माता-पिता को लगा कि मेरे लड़के में कुछ खामियाँ हैं।' मोहित जिन्होंने हाल ही में मार्च में शादी की थी, अपने जीवन में नये चरण को समायोजित करने की कोशिश कर रहे हैं। उन्होंने विस्तार से बताया कि वह एक आदमी के रूप में कैसे व्यवहार करते हैं और इसके साथ क्या विशेषताएँ जुड़ी हुई हैं। उनके अनुसार अविवाहित और विवाहित जीवन में बहुत परिवर्तन आ गया है। उनके शब्दों में उनकी जिन्दगी का विवरण—'पहले मैं अपने कोठियों के साथ रहता था तब मैं जनाना व्यवहार करता था पर विवाहित जिन्दगी में मुझे मर्द के तरह रहना होता है। ऐसा करना अनिवार्य है वरना मेरी पत्नी, ससुराल और अडोस-पड़ोस के लोग मुझे सन्देह की नजर से देखेंगे। मैंने अपनी चाल चलन बदल ली है। सीना तान के चलता हूँ और गालियों का भी प्रयोग करता हूँ तब भी जब मन ना हो। अपनी पत्नी से भी कठोर लहजे में बात करता हूँ और दादी भी बढ़ा कर रखता हूँ। मेरे 'स्ट्रैट' दोस्त भी मुझे टोकते हैं कि एक मर्द की तरह रहा करो वरना लोग हम पर भी सवाल उठाएँगे। मुझे यह सब अपनी मर्दांगनी झलकाने के लिए करना पड़ता है। मैंने कई बार आत्महत्या करने की भी सोची है। पत्नी के साथ रहना मेरे लिए बहुत मुश्किल हो जाता है क्योंकि कहीं न कहीं मेरा जनाना व्यवहार उभर आता है।'

मोहित जैसे कई उत्तरदाताओं को इस बात की एक समान समझ थी कि सक्रिय या कठोर या सख्त होने का क्या मतलब है। पुरुषत्व उनके जीवन में एक मुखौटा बन गया और ये मुखौटा लोक संस्कृति की देन है। ऐसी देन जिसने इस मुखौटा को उनके आत्म सम्मान से जोड़ दिया है। सरल शब्दों में बोला जाए तो अगर आप मर्द हैं तो इंसान भी हैं जिसको समाज पहचानता है और इज्जत करता है भले ही आप निजी जिन्दगी में कैसे भी हों। हमें समय के साथ इस सोच को बदलना चाहिये। हम अभी भी अँग्रेजों के दिये हुए कानून और उसके प्रभाव को अपनी संस्कृति समझते हैं। अब तो सुप्रीम कोर्ट ने भी धारा 377 को खारिज कर दिया है। जरूरत है हमें अपनी पुरानी सोच को खारिज करके अपवर्जित वर्गों को स्वीकार करें ताकि वे भी अपनी जिन्दगी इज्जत और गरिमा से जी सकें। □

हाँ, मैं ट्रांसजेण्डर हूँ

आत्मकथ्य

धनञ्जय चौहान मंगलमुखी

कई बार मुझे बहुत बुरी तरह हिंसा का शिकार होना पड़ा। ऐसी कई घटनाएँ हैं जिनमें मेरा रात को बाहर निकलना ही बहुत खतरनाक हो जाता था। मैंने अब सोचना शुरू कर दिया था कि इस तरह की घटनाएँ तो मेरे साथ होती ही रहेंगी! मैंने अब निर्णय लिया कि समाज में इस तरह की सोच बदलने के लिए मुझे लड़ना होगा। इसके लिए मुझे समाज में अपनी आवाज उठाने के साथ साथ यह भी गर्व से मानना होगा कि हाँ! मैं एक ट्रांसजेण्डर हूँ और इसमें कोई बुराई नहीं।



लेखिका पंजाब विश्वविद्यालय, चंडीगढ़ की प्रथम ट्रांसजेण्डर विद्यार्थी हैं। सामाजिक कार्यों से जुड़ी हैं।
+9194636 92362
chauhandhananjay341@gmail.com



मेरा नाम धनञ्जय चौहान मंगलमुखी है। मैं एक ट्रांसजेण्डर हूँ और पंजाब विश्वविद्यालय, चंडीगढ़ की प्रथम ट्रांसजेण्डर विद्यार्थी हूँ। मेरा जन्म देवभूमि उत्तराखंड के पौड़ी जनपद में सन् 1970 में हुआ। परिवार में खुशी का माहौल था। एक तो परिवार में बेटे का जन्म, दूसरा पिता जी को सरकारी नौकरी मिल गयी थी। प्रथा के अनुसार धार्मिक कर्मकाण्ड भी हुए। कुछ दिन बाद किन्नर भी अपने कदमों से हमारे घर के आँगन को पवित्र करने आये। वे अपना नाच गाना कर और आशीर्वाद दे कर चले गए। कुदरत के सुन्दरतम रूप को दुनिया के साथ-साथ वे लोग भी न पहचान सके। कुदरत की गुप्त रचना जो तृतीया प्रकृति के रूप में इस दुनिया में थी किसी को पता भी नहीं चला। लोग मुझे बालक मान बैठे थे। मेरे जन्म के कुछ माह के बाद ही मेरे माता-पिता चंडीगढ़ आ गये, जहाँ पर मेरा पालन पोषण हुआ।

मैं 5 साल की हुई तो मेरा दाखिला एक सरकारी स्कूल में करवा दिया गया। सब कुछ सामान्य था। धार्मिक रस्म के अनुसार मेरा मुंडन होना था। चूँकि सब मुझे बालक समझते

थे तो मेरे सर के बाल काटने जरूरी थे। घर में बहुत सारे मेहमान आये थे। खूब खरीदारी की गयी। सब के कपड़े खरीदे गए। मेरे लिए भी पैट कमीज खरीदी गयी। लेकिन मैंने पहली ही नजर में उसे नकार दिया और पहनने से मना कर दिया। मैंने कहा कि मुझे लड़कियों वाली फ्रॉक चाहिए। माता पिता ने मुझे समझाया कि तुम लड़के हो और लड़के फ्रॉक नहीं पहनते। मैंने उनकी एक भी बात नहीं सुनी। मैं अपनी बात पर अड़ी रही। थक हार कर वे मेरे लिए फ्रॉक ले आये। मैं खुश भी और उदास भी। खुश इस लिए कि घर पर बहुत धूमधाम था, बहुत रौनक थी और दुखी इस लिए थी कि मेरे खूबसूरत बाल काटे जाने थे।

मैं शुरू से ही कुछ कर गुजरने की जिद करती थी। मेरा यह स्वभाव अभी भी है। मैं समाज से टकराने की पूरी हिम्मत रखती हूँ। जो समाज करता है, मैं उसके विपरीत कुछ नया, अलग और विलक्षण करने की हिम्मत रखती हूँ।

मैं ज्यादातर महिलाओं के साथ रहती थी। कभी-कभार पुरुष साथियों के साथ भी खेलती

थी लेकिन किरदार महिला का ही निभाती थी। जिस कारण पुरुष मेरी तरफ आकर्षित होने लगे। पुरुष हमेशा मुझे अपने पास बुलाना चाहते थे। कुछ तो मुझे अपनी महिला मित्र की तरह रखते थे। मुझे अच्छा महसूस होता था। कुछ पुरुष मुझे सन्देश वाहक की तरह प्रयोग करते थे, ताकि अपने प्रेम पत्र मेरे द्वारा महिला तक पहुँचा सकें। कई बार तो मैं फँसते फँसते बची, क्योंकि प्रेम पत्रों की बात उन महिलाओं के घर तक पहुँच गयी थी। लेकिन डॉट डपट के बाद मुझे छोड़ दिया जाता था।

मेरे परिवार ने मेरा पालन पोषण मेरे भाई बहन जैसा ही किया। मेरे साथ कभी लड़कियों जैसा व्यवहार नहीं किया गया। लेकिन फिर भी मैं खुद ही अपनी माता जी के साथ घर के काम में मदद करती रहती थी। मेरे घर के लोग और पड़ोसी लोग भी मेरे इस व्यवहार से बहुत खुश होते थे, क्योंकि उनके लड़के सारा दिन बाहर आवागामी करते थे। वे पढ़ते भी नहीं थे लेकिन मैं घर के काम के अलावा पढ़ाई भी करती थी। जब मैं 9-10 साल की हुई तो मेरी दोस्ती पड़ोस में रहने वाला एक लड़के से हो गयी। हम दोनों की काफी अच्छी निभने लगी। हम दोनों की पसन्द-नापसन्द लगभग एक जैसी थी। हालाँकि वह मुझसे 4-5 साल बड़ा था और मेरा ख्याल भी रखता था। धीरे धीरे हम दोनों एक दूसरे को प्यार करने लगे। लेकिन मुझे पता नहीं था कि यह आकर्षण और प्रेम किस तरह का है, फिर भी हम एक दूसरे को काफी पसंद करते थे। यह दोस्ती सामान्य दोस्ती से अलग होती जा रही थी। हम एक दूसरे के बिना रह नहीं पा रहे थे।

समय बीता और मेरे दोस्त की शादी हो गयी। शादी के बाद उसने मेरी तरफ ध्यान देना कम कर दिया। जो इंसान मुझे घण्टों प्यार करता था वह अब मुझे यह समझाता था कि यह सब ठीक नहीं है और अब हम लोग बड़े हो गए हैं। अब हमें अपने जीवन के बारे में सोचना चाहिए। उसने बड़ी आसानी से मुझे बोल दिया कि अगर तुम्हें किसी और पुरुष की जरूरत है तो वह उसका भी बन्दोबस्त कर देगा। उसे मेरी भावनाओं की बिलकुल भी कद्र नहीं थी। इन लोगों के लिए किन्नर के साथ हुए प्यार की कोई कीमत नहीं क्योंकि किन्नर के साथ प्यार का कोई अंजाम नहीं

होता। उनको लगता है यह जीवन का सत्य नहीं। उनके लिए जीवन का सत्य बच्चे पैदा करना है, लेकिन किसी की भावनाओं से उनको कोई लेना देना नहीं। इन लोगों के लिए एक स्त्री या पुरुष से अलग व्यक्ति का जीवन कोई जीवन नजर ही नहीं आता।

शरीर में कुछ अलग तरह की बनावट से (चाहे वह प्रत्यक्ष हो या अप्रत्यक्ष) इंसान किसी भी तरह से किसी काम को करने में अक्षम नहीं होता। समाज में बहुत सारी गलत धारणाएँ हैं। कई बार शारीरिक बनावट दिखाई भी देती है और कई बार नहीं भी। हमारा दिमाग ही निर्णय करता है कि हम क्या हैं।

हमारा मस्तिष्क ही हमें निर्देश देता है कि जिस शारीरिक लिंग को ले कर हम पैदा हुए हैं उस लिंग से हम कौन सा शारीरिक कर्तव्य निभा सकते हैं। लेकिन सामाजिक सोच ने हम सब को मर्द, औरत या किन्नर बना दिया है।

संसार को चलाने के लिए तृशक्ति है—ब्रह्मा, विष्णु और महेश। एक सृष्टिकर्ता है, एक संहारकर्ता और एक पालनहार है। कई लोगों के लिए यह एक कहानी भर है लेकिन तीन शक्तियों का हमेशा से वजूद रहा है। ट्रांस आदमी और ट्रांस औरत को अगर समाज में अपनी मर्जी से रहने और विवाह करने का अधिकार मिल जाये तो वह ऐसे बच्चों को गोद ले सकते हैं जो अनाथ हैं, जिनका कोई नहीं ताकि उन अनाथ बच्चों का जीवन सुधर जाये। लेकिन समाज की गलत धारणाएँ यह सब होने नहीं देती। समाज में हम लोगों के लिए कोई स्थान नहीं रहता।

भारत में सेक्स एजुकेशन एक टैबू है। इस पर बात करना ही कलंक माना जाता है। हम लोगों को कहीं नहीं पढ़ाया जाता कि जेंडर पहचान या लैंगिकता क्या है? अभी भी लोग सेक्स के बारे में बात करने से डरते हैं। इसकी जानकारी की कमी में हम जैसे लाखों करोड़ों लोगों का जीवन तबाह हो रहा है।

मैं दसवीं के बाद कॉलेज गयी। वहाँ थोड़ा माहौल बदला। मैंने अपनी पहचान को छुपा कर पढ़ाई की। मैं तीनों साल सरकारी कालेज सेक्टर 46, में प्रथम रही और हर क्षेत्र में मैंने प्रथम इनाम प्राप्त किये। मैंने 1993 में अपनी स्नातक की डिग्री लेने के बाद पंजाब

विश्वविद्यालय के इतिहास विभाग में मास्टर में प्रवेश लिया। वहाँ मेरे साथ कुछ विद्यार्थियों ने बहुत बुरा व्यवहार किया। मैंने मास्टर छोड़ दी। उसके बाद मैंने प्राइवेट नौकरी करना शुरू कर दी। 1994 में संध्या काल लगने वाली लॉ में प्रवेश लिया, वहाँ कुछ विद्यार्थियों ने रैगिंग के दौरान मुझे नंगा करके पूरी क्लास में घुमाया। 10-12 दबंग लोगों की वजह से मैंने लॉ भी छोड़ दी। फिर मैंने रसियन भाषा और उसके बाद फ्रेंच भाषा के डिप्लोमा कोर्स में प्रवेश लेकर शिक्षा का दामन पकड़े रखा। 1998 में कंप्यूटर विज्ञान में भी डिप्लोमा किया और नौकरी भी करती रही। भेदभाव तो हर जगह होता रहा—चाहे स्कूल हो या कॉलेज, विश्वविद्यालय हो या नौकरी की जगह या कि हॉस्पिटल।

कई बार मुझे बहुत बुरी तरह हिंसा का शिकार होना पड़ा। ऐसी कई घटनाएँ हैं जिनमें मेरा रात को बाहर निकलना ही बहुत खतरनाक हो जाता था।

मैंने अब सोचना शुरू कर दिया था कि इस तरह की घटनाएँ तो मेरे साथ होती ही रहेंगी! मैंने अब निर्णय लिया कि समाज में इस तरह की सोच बदलने के लिए मुझे लड़ना होगा। इसके लिए मुझे समाज में अपनी आवाज उठाने के साथ साथ यह भी गर्व से मानना होगा कि हाँ! मैं एक ट्रांसजेण्डर हूँ और इसमें कोई बुराई नहीं।

सबसे पहले मैंने अपने परिवार को इसके लिए तैयार करना शुरू कर दिया। उनको इस विषय पर धार्मिक तरीके से बताना शुरू किया। मैं उनको हर पहलू से समझने की कोशिश करती, यह प्रक्रिया वर्षों चली। मैंने अपने ही ट्रांसजेण्डर और समलैंगिक समाज के लोगों से उनकी दुःख-तकलीफ के बारे में जानना शुरू किया। उनको सेक्स और जेंडर का फर्क बताने लगी। एचआईवी, एड्स एवं यौन रोगों के बारे में जानकारी देने लगी। जिसको भी यौन रोग होता, मैं उसे लेकर सरकारी अस्पताल जाती। इस दौरान हम सब के साथ काफी भेदभाव भी होता था लेकिन मैंने हिम्मत नहीं हारी। अपने काम में लगी रही।

मैं अपने समुदाय की भलाई के लिए सोचती रहती। कैसे हम सब के लिए समान अधिकार कानून बने। भारत में ट्रांसजेण्डर के लिए कोई प्रोटेक्शन कानून नहीं था। ट्रांसजेण्डर

को इन्सान नहीं समझा जाता था। ट्रांसजेण्डर के लिए वोट देने का अधिकार नहीं था और समलैंगिकता भी अपराध के श्रेणी में थी। 2002 से 2009 तक मेरे साथ भी काफी दुर्व्यवहार और भेदभाव हुआ।

इसी दौरान 2004 में मुझे एक निजी स्कूल में अध्यापक की नौकरी मिल गयी थी और साथ साथ मैं संध्या को अपने समुदाय के लोगों को मिलती रहती थी। उनकी समस्याओं को जानने की कोशिश करती थी ताकि उनका हल करने में मदद करूँ। किसी को मेरी मदद की जरूरत होती थी तो मैं नौकरी से अवकाश लेकर उनकी मदद करती।

2009 तक मैं अपने समुदाय में काफी प्रसिद्ध हो गयी थी। लोग मुझ पर विश्वास करने लगे थे। फिर मैंने अपने मित्र के साथ एक सामुदायिक संस्था का निर्माण करके पंजीकृत करवाया। इस्लामुद्दीन भी मेरी तरह मेहनती इंसान है! उसने कॉमर्स में स्नातक तक पढ़ाई की है। उसको भी उसके भाइयों ने समलैंगिकता के कारण घर से निकाल दिया था। उसके पास रहने को घर नहीं था। खाने को खाना नहीं, पहनने को कपड़े नहीं थे। आज वह अपने पाव पर खड़ा है।

मैंने 2009 में स्कूल में अध्यापक की नौकरी छोड़ दी। अब मैंने खुल कर अपने समाज के मानव अधिकारों के साथ-साथ उनके स्वास्थ्य के लिए काम करना शुरू कर दिया। भारत के दूसरे शहरों की तरह चंडीगढ़ में भी गर्व उत्सव का सफल आयोजन हुआ। इसमें चंडीगढ़ के अलावा पंजाब, हरियाणा, दिल्ली और दूसरे राज्यों से भी समुदाय के लोग शामिल हुए।

2009 को मैं पहली राष्ट्रीय स्तर की गोष्ठी में शामिल हुई। वहाँ किन्नर समुदाय से सम्बंधित मुझाव मैंने रखा। 2012 में मैं रेड रिबन ट्रेन कैम्पेन में शामिल हुई। मुझे नाको और इंडिया एच आई व्ही एड्स अलाएंस की तरफ से मास्टर ट्रेनर बना दिया गया। मैं कई राज्यों में एड्स के बारे वहाँ के हेल्थ वर्कर्स को ट्रेनिंग देने जाती हूँ। मुझे काउन्सलिंग की हर तकनीक आ गयी थी।

2012 से हमने ट्रांसजेंडर अधिकारों के लिए लड़ना शुरू कर दिया। उसमें हमने नालसा निर्णय के लिए मुझाव दिए और नालसा निर्णय को सर्वोच्च न्यायालय ने सही

माना और 15 अप्रैल 2014 को अपने निर्णय में ट्रांसजेण्डर को सभी अधिकार दे दिये। सभी राज्य और केन्द्र सरकार को निर्देश दिए कि ट्रांसजेण्डर लोगों के लिए कारगर पालिसी बनायें और ट्रांसजेण्डर को थर्ड जेण्डर की अलग श्रेणी देकर सुविधाएँ दी जाएँ। हालाँकि ट्रांसजेण्डर के प्रति सरकारों का रवैया दुलमुल ही रहा है। हमें अब तक पूर्ण अधिकार नहीं मिला है। रोटी, कपड़ा और मकान के अलावा सरकारों के पास अभी भी हमारे लिए कोई ठोस पालिसी नहीं है।

पुलिस से लेकर समाज कल्याण विभाग को अभी समझ नहीं आ रहा है कि मुख्यधारा में जोड़ने के लिए ट्रांसजेण्डर लोगों के लिए कैसी पालिसी बनाई जाए।

मेरे जैसे कुछ साथियों ने अपनी मेहनत के दम पर कामयाबी हासिल की है, लेकिन समुचित व्यवस्था नहीं होने के कारण हम भीख माँगने के लिए मजबूर हैं।

मैंने पंजाब विश्वविद्यालय में जाकर ट्रांसजेण्डर अधिकारों के बारे में जानकारी दी। 2015 में पंजाब विश्वविद्यालय ने अपने सभी प्रवेश फॉर्म में थर्ड जेंडर कॉलम डाला, ताकि ट्रांसजेंडर्स भी पढ़ सकें। लेकिन जब तक स्कूल लेवल पर प्रयास नहीं होंगे, तो विश्वविद्यालय में वे कहाँ से आएंगे?

2014 को आमिर खान के शो 'सत्यमेव जयते' के साक्षात्कार के लिए मुझे भी चुना गया था। जून 2015 में नॉर्वे की राजधानी ओस्लो में गर्व उत्सव में मेरी फोटो हर नुक्कड़, चौराहे और शॉपिंग मॉल में लगायी गयी थी।

मेरी दोबारा रेगुलर पढ़ाई तकरीबन 24-25 साल बाद शुरू हुई। हालाँकि अब वो जवानी वाली मानसिक दशा नहीं है लेकिन संघर्ष करने का जोश अब भी बाकी है।

2016 में मैंने पंजाब विश्वविद्यालय में ट्रांसजेण्डर की हैसियत से मानव अधिकार विभाग में स्नाकोत्तर में प्रवेश लिया। मैंने हर प्रवेश परीक्षा अच्छे अंकों से पास की और मुझे किसी आरक्षण की जरूरत नहीं पड़ी क्योंकि मेरे अंक बहुत अच्छे थे। मुझे पंजाब विश्वविद्यालय का प्रथम ट्रांसजेण्डर विद्यार्थी होने का गर्व भी है लेकिन मेरे ऊपर बहुत सारी ट्रांसजेण्डर समाज के प्रति जिम्मेदारियाँ भी हैं।

मैं किन्नर समाज के राईके घराने से सम्बन्धित हूँ और मेरी गुरु काजल मंगलमुखी है। मेरी गुरु ने मेरा बहुत साथ दिया। विश्वविद्यालय में प्रवेश के बाद मेरे लिए सबसे बड़ी समस्या थी की मैं कौन सा शौचालय प्रयोग करूँ? क्योंकि वहाँ पर महिला और पुरुष के लिए शौचालय थे। मैं बहुत दुविधा में फँस गयी थी! मेरे विभाग की महिला साथियों ने तो बोला कि तुम हमारा शौचालय का प्रयोग करो लेकिन स्टूडेंट सेप्टर पर मैं कैसे जाती? मैंने उप कुलपति को पत्र लिख कर अलग शौचालय की माँग की। सिंडिकेट सेनेट ने मीटिंग में 23 लाख रुपये ट्रांसजेण्डर के लिए अलग शौचालय के लिए पास कर दिया।

इसके अलावा मैंने चंडीगढ़ में सार्वजनिक स्थलों पर ट्रांसजेण्डर के लिए अलग शौचालय बनाये जाने की माँग भी की थी।

सभी स्कूलों के अध्यापकों की जेण्डर आइडेंटिटी और सेक्सुअल ओरिएंटेशन के बारे में ट्रेनिंग करवाई जानी चाहिए ताकि अध्यापकों को समझ आ सके कि अलग तरह की जेण्डर आइडेंटिटी कोई डिस्ऑर्डर नहीं, बल्कि कुदरत की एक अलग और नायाब रचना है।

समाज की सोच में अभी बहुत बदलाव की जरूरत है। अभी शुरुआत भर है। हमें खुल कर बाहर आना होगा। लोगों और सरकारों को बताना होगा कि हम अप्राकृतिक नहीं, हम भी आप जैसे ही हैं। नहीं तो ऐसे कई धनञ्जय चौहान हर रोज लैंगिक हिंसा और भेदभाव का शिकार होते रहेंगे और उनको मारा जायेगा। मैं कई बार पैदल या लोकल बस में विश्वविद्यालय आती हूँ। लोग मुझे गौर से देखते हैं। कुछ घूरते हैं। कुछ हँसते हैं। कुछ बातें करते हैं। कुछ हद पार कर जाते हैं। भेद इशारे करते हैं, लेकिन यह सब मेरे हौसले और दृढ़ निश्चय पर कोई असर नहीं डालते। मुझे उम्मीद है कि एक दिन हम ट्रांसजेंडर इसी समाज में मिलकर रहेंगे। माता-पिता के साथ रहेंगे और उनका सहारा बनेंगे। बेटे तो शादी के बाद अलग हो जाते हैं, लेकिन हम जैसे लोग उनका साथ नहीं छोड़ेंगे।

इकबाल का एक शेर मुझे याद आता है- 'जरा नम हो तो ये मिट्टी बड़ी जरखेज है।'

□

जोकर या यौन खिलौना

साक्षात्कार

मानबी बंद्योपाध्याय से प्रियंका दास गुप्त की बातचीत

जब जून 2015 में भारत के किसी महाविद्यालय की पहली हिजड़ा प्रधानाचार्य के रूप में मानबी बंद्योपाध्याय की नियुक्ति हुई तो उनका नाम अखबारों की सुर्खियों में छा गया। लेकिन पिछले महीने उन्होंने बंगाल के कृष्णा नगर महिला महाविद्यालय के अपने इस पद से त्यागपत्र दे दिया। त्यागपत्र देते हुए उन्होंने अपने साथी अध्यापकों पर असहयोग और पूर्वाग्रह के आरोप लगाये। बावन साल की बंद्योपाध्याय प्रियंका दासगुप्त को बता रही है कि कैसे एक गुलदस्ता ठिठोली और तानों में तब्दील हो जाता है...



अपने त्यागपत्र को स्वीकृति हेतु भेजने के बाद आप बंगाल के शिक्षामन्त्री पार्था चटर्जी से मिलीं। उन्होंने आप से क्या कहा?

शुक्रवार को मैं एक समारोह में उनसे यों ही टकरा गयी। उस क्षण मैंने उन्हें टैगोर को उद्धृत करते पाया और उन्होंने कहा कि 'जेते नहीं दिबो' (मैं आपको जाने नहीं दूँगा)। हमने एक संक्षिप्त सी बातचीत की। और हम फिर मिलने जा रहे हैं। लेकिन ईमानदारी से कह रही हूँ कि अपने सहकर्मियों के हाथों क्लेश सहते-सहते मैं थक गयी हूँ। असहयोग, घेराव, मौखिक गाली-गलौज और एक सप्ताह के लिए कक्षाओं का बहिष्कार-इस प्रकार का अन्तहीन उत्पीड़न मुझे व्यथित कर चुका है। मुझे काम करने का नशा है लेकिन इसका यह मतलब भी नहीं कि मैं हर एक को आधी रात तक महाविद्यालय में काम करने को मजबूर करती हूँ। मैंने बस इतना ही चाहा कि अनुशासन कायम करूँ। और जो प्रशासन को अपनी मुट्ठी में करना चाहते थे, उनके हाथों की कठपुतली न बनूँ। जिस चीज ने उनके अहम् को चोट पहुँचाई, वह थी कि एक

हिजड़ा उन्हें काम करने की आज्ञा दे सकती है। इसी से उन्होंने मेरे जीवन को नरक बना डाला। यहाँ तक कि मुझे अपने दो साथियों के खिलाफ एफ.आई.आर. तक दर्ज करानी पड़ी जिन्होंने मुझे मारने की धमकी दे दी थी। मैं अध्यापन कक्ष में सीसीटीवी कैमरे लगवाना चाहती थी क्योंकि मुझे विश्वास था कि कक्षा के घंटों में यह गप्पबाजी का एक स्थायी अड्डा बनकर रह गया था। लेकिन उन्होंने यह कहते हुए विरोध किया कि मैं उनकी निजता में दखलन्दाजी कर रही हूँ। कारण कि अध्यापक कक्ष में उनका रवैया पूर्णतः बदला हुआ होता था।

आपके त्यागपत्र उपरान्त क्या किसी भी साथी ने आप से बातचीत की है?

नहीं, उनकी ओर से तो मरघट का सा सन्नाटा छाया हुआ है।

क्या आपका यह त्यागपत्र हिजड़ों के सशक्तिकरण के आन्दोलन को पटरी से उतारता है?

कुछ लोगों ने मुझसे बोला है कि इसने उनके संकल्प को कमजोर किया है। लेकिन मैंने उनसे कहा कि मेरी लड़ाई जारी रहेगी।

इससे कोई फर्क नहीं पड़ता कि मैं कहाँ हूँ।

क्या आप अपने निर्णय पर पुनर्विचार कर रही हैं?

अगर मैं सहृदयता दिखलाती हूँ तो क्या उनका रुख बदलेगा? छह महीनों के लिए वे शान्त रह सकते हैं। लेकिन उसके बाद? यह वही महाविद्यालय है जहाँ जब मैंने पदभार सम्भाला था तो गुलदस्ते के साथ मेरी अगवानी की गयी थी। किन्तु आज मैं उस अभागी बहू सा महसूस करती हूँ जिसे एक साल बाद जिन्दा जला देने के लिए शादी की रात फूलों से सजी सेज तक पूरे लाव-लश्कर के साथ हिफाजत से ले जाया जाता है।

लेकिन ऐसा उत्पीड़न आपके लिए नया नहीं है...

मैं अन्दर तक थक चुकी हूँ। मैं बावन साल की हूँ। और यह उत्पीड़न बारंबार प्रसारित होने वाले खेल की तरह है जो मेरे जीवन को पाश में फंसाने वाला है। इस खेल के खिलाड़ी बदलते हैं लेकिन पूर्वाग्रह नहीं जाते। जब मैं पश्चिमी मिदनापुर के विवेकानन्द शतवार्षिकी महाविद्यालय के साथ बंगला की व्याख्याता के रूप में जुड़ी तो स्त्रीणता के चलते मेरा उपहास उड़ाया गया। मुझे सोमनाथ के नाम से जाना जाता था। मेरे अधिकांश साथी अध्यापक यह विश्वास ही नहीं करते थे कि मुझे किसी निजता की जरूरत है। वे मेरी जननेन्द्रियों के प्रति जिज्ञासु थे और उनमें मेरे गुप्तांगों पर चोर दृष्टि डालने की धृष्टता भरी हुई थी। अध्यापक कक्ष में मेरे साथ शारीरिक दुर्व्यवहार किया गया है। एक बार तो मेरे वक्ष पर किसी ने पेपर वेट फेंक दिया! मैं उनकी घरेलू जोकर होकर रह गयी, ऐसी जोकर जिसका लुप्त उसके नितंबों के चलते सर्कस के हर प्रदर्शन में दर्शकों का मनोरंजन करने के लिए लिया जा सके। लेकिन मेरे समुदाय ने जिन उत्पीड़नों को झेला, उनके बनिस्पत वह उत्पीड़न भी कम था।

वे क्या झेलते थे?

वे बिहार के 'लौंडा नाच' कार्यक्रमों में जाते थे जहाँ वे क्रूर यौन उत्पीड़न का शिकार बनते। मेरे शिक्षित साथियों ने मेरा उत्पीड़न कहीं ज्यादा सभ्य तरीके से किया। इसलिए मैं 'लौंडा नाच' से तो नहीं गुजरी। लेकिन जैसा कि मैंने कहा, उन्होंने मुझसे चाहा कि



मैं दिन में जोकर और रात को यौन खिलौना बनूँ।

क्या 2016 में चीजें बेहतर नहीं हुईं?

दिखावटी बदलाव हुये हैं। सार्वजनिक जगह पर कोई मेरा उपहास उड़ाने की हिम्मत अब नहीं करेगा। मेरा कोई भी साथी खुले में नहीं कहेगा कि उसे मेरी यौन पहचान से कोई समस्या है। लेकिन सतह को खुरचिए और आप पाएँगे कि कितने पूर्वाग्रही हैं वे। उनसे असुरक्षा की गन्ध आती है। उनके पास एक हिजड़े की बनी बनाई छवि है। हमें ईश्वर द्वारा त्याज्य माना गया है। हमारे पास हमें स्नेह करने वाने माता-पिता नहीं हो सकते। और न हमारे पास हमारी देखभाल करने वाले बच्चे हो सकते हैं। चूँकि मैं इस रूढ़ छवि में कैद नहीं रही इसीलिए मैं बलि का बकरा बन गयी। मेरे दत्तक पुत्र को भी निशाना बनाया गया है।

आपके साथी अध्यापकों ने आपके दत्तक पुत्र के खिलाफ अनेक आरोप लगाये हैं।

उन्हें उन आरोपों को साबित तो करने दीजिए। यह आरोप लगाया गया है कि वह महिला छात्रावास में चोरी छिपे घुसा करता था। अब मैंने पूरे परिसर में सीसी टीवी कैमरे लगवा दिये हैं। अगर वास्तव में उसने ऐसा किया, तो क्या उसके फुटेज उपलब्ध नहीं होंगे?

ऐसी भी चर्चा है कि कुछ हिजड़े शिकार बनाये जाने का नाटक करने के

लिए अपनी यौन पहचान का बेजा इस्तेमाल करते हैं।

यह एक ऐसा दोषारोपण है जिसे जड़ना मुख्यधारा को बड़ा प्रिय है। हिजड़े तो इतना ज्यादा हाशियाकृत हैं कि उत्पीड़ित होने का खेल खेलने की छूट वे नहीं ले सकते हैं। यह आरोप जड़ना तो वैसे ही कहना हुआ जैसे कि विवाहिता महिलाएँ 498 ए (दहेज कानून) का दुरुपयोग करती हैं। यद्यपि कोई ऐसा करने वाली भी हो सकती है लेकिन अधिकांश महिलाएँ इसका इस्तेमाल मात्र इसलिए करती हैं कि वे वास्तव में उत्पीड़ित हैं। मुख्यधारा के लोगों के लिए यह समझना जरूरी है कि 2017 में भी हिजड़े के रूप में जीना गरिमापूर्ण जीना नहीं है। (इस जीवन में) बहुत ही तीक्ष्ण दैहिक-मानसिक उत्पीड़न होता है।

अगर आपका पुनर्जन्म हुआ, तो क्या तब भी आप मानबी बंदोपाध्याय का जीवन चाहेंगी?

अगर आप महाभारत में लौटें तो हर वह राजा जो एक महिला में रूपांतरित हुआ, उसने बहुत सन्तोषप्रद जीवन जिया। जब उनसे पूछा गया कि कौन-सा लैंगिक जीवन वे सबसे ज्यादा पसन्द करते हैं, तो उन्होंने स्त्री लिंग को ही चुना। मेरे लिए भी स्त्री हेना मुझे पूर्णता का अहसास कराता है।

(1 जनवरी, 2017 के टाइम्स ऑफ इण्डिया से साभार।)
अनुवाद-प्रमोद मीणा

मरते बच्चे, बिलखते परिजन

बिहार

महेश तिवारी

विश्व स्वास्थ्य संगठन के तय मानकों के अनुसार, प्रति एक हजार व्यक्तियों पर एक डॉक्टर होना चाहिए। उस लिहाज से देखें तो हमारे देश में डॉक्टरों का यह अनुपात तय मानकों के मुकाबले 11 गुना कम है। वहीं बिहार जैसे राज्यों में तो तस्वीर और भी धुंधली है, जहाँ 28,391 लोगों की आबादी पर एक एलोपैथिक डॉक्टर उपलब्ध है। ऐसे में बिहार ही क्या नये दौर के भारत के सामने बेहतर स्वस्थ सुविधाओं के लाले पड़ते दिखाई पड़ेंगे ही।



लेखक सामाजिक और राजनीतिक विषयों के स्वतन्त्र टिप्पणीकार हैं।
+919630377825
maheshjournalist1107@gmail.com



लोकतन्त्र के साए तले हमारे देश की राजनीति भी बड़ी अजीब किस्म की होती जा रही है। जहाँ सियासतदानों का कुर्सी के सिवाए कोई सरोकार नहीं। इन सियासतदानों की अन्तरात्मा कभी जनहित के मुद्दे पर जगती नहीं, इसीलिए उनसे अब कोई उम्मीद कैसी? हमारे देश का दुर्भाग्य कर्हें या सरकारी तन्त्र में झोल, बच्चों की मौत हर साल होती रहती है लेकिन इन्तजाम उससे निपटने का कश्मीर से लेकर बिहार तक कोई नजर नहीं आता। बच्चों की मौत पर संवेदनशील संघ और राज्य की सरकारें भी नहीं नजर आतीं। शायद इसके पीछे का सबसे बड़ा कारण यह होगा कि ये नौनिहाल या दुधमुँहे बच्चे सियासी रणबाँकुरों के लिए लोकतन्त्र के साए तले मततन्त्र की उर्वरक राजनीतिक जमीन पैदा करने के हालात में नहीं होते। आज की स्थिति में बिहार में नौनिहाल की क्या दशा है? जिस दौर में केन्द्र की सरकार आयुष्मान भारत के नाम पर अपना सीना चौड़ा कर रही है और जिस इक्कीसवीं सदी में हम अन्तरिक्ष पर मानव भेजने की जुगत में लग

गये हैं उस समय बिहार में जमीनी हकीकत यह है, कि बिलखती माँ और कोई सुबकता बाप अपने बच्चों की लाश लिए जा रहा है। यह सिर्फ बिहार की स्थिति नहीं। देश के अन्य राज्यों की स्थिति ऐसी ही नजर आएगी, लेकिन उसे देखने के लिए नजर पैदा करनी होगी। वह नजर शायद देश और प्रदेश के हुक्मरानों के पास नहीं!

कौन भूला होगा उत्तरप्रदेश के गोरखपुर की घटना जब वहाँ 2017 के अगस्त महीने में मासूम बच्चे इंसेफलाइटिस से जिन्दगी और मौत से जूझ रहे थे। तब योगी आदित्यनाथ के जिम्मेदार स्वास्थ्य मन्त्री जी यह याद दिला रहे थे कि अगस्त माह में ज्यादा बच्चे मरते हैं। वही स्थिति बिहार में दोहराई जा रही है, उसी बिहार में जहाँ सुशासन बाबू का पहरा है। राज्य के लोगों के पास जख्म काफी गहरे हैं। हो भी क्यों न, जिन माँ-बाप की आँखों का तारा उन्हीं के सामने टिमटिमाना बन्द हो जाएगा, सोचिए स्थिति कैसी होती होगी? दुर्भाग्य है लेकिन इस विषय पर न रहनुमाई तन्त्र दृष्टि डालता है और न ही

अवाम इन बातों को लेकर व्यापक स्तर पर लोकशाही व्यवस्था के खिलाफ उद्वेलित होती दिख रही! बिहार में बच्चों की मौत बदस्तूर जारी है। उसके बाद भी मीडिया, समाज और सरकारी तन्त्र शून्य में लीन है। फिर बहुतेरे सवाल इन तीनों से पूछे जाने चाहिए। सबसे पहले जनमानस से सवाल होना चाहिए, कि वे राजनेताओं के फरमान पर अगर धरना प्रदर्शन आदि कर सकते हैं, तो आखिर बच्चों की मौत पर मौन साधना क्यों? क्यों कोई धरना, कोई अनशन देश से लेकर प्रदेश स्तर पर दीगर नहीं होता? क्या वे इस लिए शान्त हैं, कि अभी ये लपटें उनके आँगन तक नहीं पहुँची हैं? अगर स्थिति यह है। तो इसे बड़ी दयनीय दशा कही जा सकती है। जीवन जीने की स्वतन्त्रता अगर हमारे संविधान ने दिया है, तो लोकतान्त्रिक व्यवस्था से वह हक माँगना हमारा वाजिब कदम है। इसे अब और नजरअन्दाज करना कहीं न कहीं हमारी मानसिक गुलामी का प्रतीक है।

अब बिहार में एक्यूट इंसेफेलाइटिस सिंड्रोम (ईईएस), जापानी इंसेफेलाइटिस (जेई) और कुछ अन्य बीमारियों से अब तक लगभग सौ से अधिक बच्चों की मौत हो चुकी है। स्थानीय लोग जिसे चमकी बुखार या दिमागी बुखार के रूप में जानते हैं। अब तक इसकी चपेट में आने वाले बच्चों की संख्या दो सौ के आंकड़े को पार कर चुकी है। बिहार सरकार के जिम्मेदार मन्त्री बोल रहे हैं कि लीची खाने से बच्चे बीमार हो रहे। कोई यह क्यों उन्हें नहीं बताता कि विशेषज्ञ डॉक्टरों के मुताबिक एक्यूट इंसेफेलाइटिस सिंड्रोम शरीर के मुख्य नर्वस सिस्टम यानी तंत्रिका तन्त्र को प्रभावित करता है और वह भी खासतौर पर बच्चों में। इस बीमारी के लक्षणों की बात करें तो इसकी शुरुआत तेज बुखार से होती है। फिर शरीर में एंठन महसूस होती है, इसके बाद शरीर के तंत्रिका सम्बन्धी कार्यों में रुकावट आने लगती है। इसके अलावा इससे बच्चा बेहोश हो जाता है, दौरे पड़ने लगते हैं। कुछ मामलों में तो पीड़ित कोमा में भी जा सकता है। अगर समय पर इलाज न मिले तो पीड़ित की मौत तक हो जाती है। आमतौर पर यह बीमारी जून से

अक्टूबर के बीच देखने को मिलती है। फिर इसमें लीची खाने या न खाने की बात कहाँ से आ गयी? दरअसल राज्य सरकार इस मामले में भारी चूक की शिकार हुई है जिसके पास न बुनियादी सुविधाएँ हैं, न पर्याप्त डॉक्टर और न जागरूकता कार्यक्रम चलाया क्योंकि जानकारों के मुताबिक पिछले कुछ वर्षों में मुजफ्फरपुर और आस-पास के जिलों में चमकी बुखार एक हजार से ज्यादा बच्चों की जान ले चुका है।

वैसे मीडिया रिपोर्ट्स की मानें तो सुशासन बाबू के राज्य के मुजफ्फरपुर जिले में एक्यूट इंसेफेलाइटिस सिंड्रोम की शिनाख्त 1995 में पहली बार हुई थी। इसके बाद से हर वर्ष गर्मियों में इसकी चपेट में बच्चे आते रहे हैं लेकिन इस बीमारी के असल कारणों की पड़ताल अब तक नहीं हो सकी है। वहीं आज लगभग दो दशक से अधिक समय बीत जाने के बाद भी चूँकि, इस बीमारी के असल कारण डॉक्टरों और विशेषज्ञों की नजर से ओझल हैं और तब परहेज व सतर्कता ही इस मर्ज की असल दवा है, फिर इस विषय में जागरूकता फैलाने में बिहार सरकार विफल क्यों रही? जिस बीमारी से बचाव का माध्यम ही जागरूकता है, मीडिया में आई रिपोर्ट के मुताबिक उस जागरूकता अभियान का पहला विज्ञापन सरकार की तरफ से 10 जून को जारी किया गया, जबकि बच्चों की मौत 1 जून से होनी शुरू हो गयी थी। आखिर ऐसा क्यों? बिहार के स्वास्थ्य विभाग द्वारा जो आँकड़े मीडिया रिपोर्ट्स का हिस्सा बनते आ रहे हैं उसके मुताबिक वर्ष 2015 में इस बीमारी से 11, 2016 में चार, 2017 में 11 और 2018 में सात बच्चों की जान गयी थी जबकि 2012 में इस बीमारी से 120 बच्चों की मौत हुई थी। 2012 जैसी स्थिति इस बार भी देखने को मिल रही है जो कहीं न कहीं राज्य के सिस्टम में ही व्यापक स्तर पर व्याप्त खामियों को उजागर करता है।

बिहार में बच्चों की हो रही मौतों पर सरकारी उदासीनता की बात हो रही है, तो बिहार के स्वास्थ्य ढाँचे पर एक नजर डालना भी जरूरी है। बिहार में अगर बच्चे सुविधाओं

और जागरूकता के अभाव में काल के मुख में समा रहे हैं तो इसके पीछे दरअसल बिहार की बदहाल स्वास्थ्य तन्त्र की सूरत और सीरत के साथ सिस्टम की लापरवाही है। राष्ट्रीय स्वास्थ्य मिशन के एक आँकड़े के मुताबिक बिहार में महज 9949 उप चिकित्सा केन्द्र, 1899 प्राथमिक चिकित्सा केन्द्र व 150 केन्द्रीय चिकित्सा केन्द्र हैं। वहीं अगर अस्पतालों में डॉक्टरों की बात करें तो बिहार के प्राथमिक स्वास्थ्य केन्द्र के लिए 2078 डॉक्टरों के पद स्वीकृत हैं जिनमें से 1786 पद पर डॉक्टर कार्यरत हैं। यहाँ खाली पदों की संख्या 292 है।

इसके अलावा बिहार के केन्द्रीय स्वास्थ्य केन्द्रों पर स्वीकृत विशेषज्ञ डॉक्टरों की संख्या 600 है मगर कार्यरत महज 82 है। यानी 518 डाक्टरों के पद खाली हैं। स्वास्थ्य मिशन के अनुसार तकनीशियनों की संख्या 2049 होनी चाहिए वहाँ 611 तकनीशियन कार्य कर रहे हैं, वहीं नर्सिंग स्टाफ भी पर्याप्त संख्या में नहीं हैं।

विश्व स्वास्थ्य संगठन के तय मानकों के अनुसार, प्रति एक हजार व्यक्तियों पर एक डॉक्टर होना चाहिए। उस लिहाज से देखें तो हमारे देश में डॉक्टरों का यह अनुपात तय मानकों के मुकाबले 11 गुना कम है। वहीं बिहार जैसे राज्यों में तो तस्वीर और भी धुंधली है, जहाँ 28,391 लोगों की आबादी पर एक एलोपैथिक डॉक्टर उपलब्ध है। ऐसे में बिहार ही क्या नये दौर के भारत के सामने बेहतर स्वस्थ सुविधाओं के लाले पड़ते दिखाई पड़ेंगे ही। अवाम सुविधाओं के अभाव में मर रही। सियासतदां जनता के पैसों पर बड़े और विदेशी अस्पताल की सुविधाएँ ले रहे हैं जो लोकतन्त्र की सबसे बड़ी विडंबना है। जिस लोकतन्त्र में पहले लोक और संविधान की प्रस्तावना में हम भारत के लोग हैं सबसे पहले आता है उस लोक की सुध लेने वाला कोई नहीं, खासकर उन मासूम नौनिहालों की जो मततन्त्र का हिस्सा नहीं होते!

□

आदिवासी, दलित और अल्पसंख्यकों पर हिंसक हमले

शिवानी तनेजा

मध्य प्रदेश में गौ-ट्रान्सपोर्टर और मांस-व्यापारियों पर कानूनी काम करने पर भी पैसे ऐंठना और भीड़-द्वारा हिंसा आम हो गयी है। इन सभी अपराधी मसलों में पीड़ितों पर ही कार्यवाही करने की चुस्ती पुलिस में दिखती है, न कि वास्तविक अपराधियों के ऊपर।



एक तरफ जहाँ देश ने भाजपा सरकार को जबरदस्त जनादेश दिया है, वहीं दूसरी ओर मध्य प्रदेश राज्य के गाँवों, कस्बों और शहरों में बीते वर्षों में बजरंग दल, शिव सेना, श्री राम सेना, कर्णी सेना जैसे नामों से चल रहे विभिन्न हिन्दुत्व समूहों के हाथों फैलायी गयी नफरत और हिंसा की जड़ें फैलती गयी हैं। इनके प्रभुत्व पर कांग्रेस सरकार द्वारा भी कोई चुनौती नहीं दी जा रही है।

ऐसी ही हिंसा की एक वारदात 22 मई को सिवनी में हुई। माँब लिंगिंग (भीड़ द्वारा की गयी हिंसा) के इस हादसे की चार सदस्यों के एक जाँच दल, जिसमें राज कुमार सिन्हा, झरना झावेरी, किरण प्रकाश और शिवानी तनेजा शामिल थे, द्वारा जाँच की गयी। वायरल हुए विडियो (जो कि प्रमुख आरोपी द्वारा भाजपा की चुनावी जीत के बाद खुद पोस्ट किया गया), ने हमें पहले ही गौ रक्षकों के हिंसक व घिनौने चेहरे और साथ ही जुड़ी दण्ड-मुक्ति के एहसास को दिखा दिया। इसके बावजूद, जाँच दल को इस खास हादसे के पीड़ितों, और साथ ही आरोपियों के परिवारों में बेहद दर्द और दुख दिखा। जिनको मारा गया वे सभी और

मारनेवालों में से भी कई लोग वैसे समुदायों से हैं, जो हाशिये पर हैं।

तौसीफ खान, जिसे गौ-मांस की तस्करी में प्रमुख आरोपी बताया जा रहा है, 20 साल का भी नहीं है। स्थानीय लोगों और ट्रेवल एजेंसी की बुकिंग पर उनकी गाड़ियों को चलाता है। 21 मई की रात को वह अपनी फूफी के यहाँ रुका था, और सहरा के बाद घर की बस नहीं मिलने पर ऑटो में बैठ गया था ताकि समय पर अपनी बुकिंग पर पहुँच पाये। वारदात की जगह से ऑटो-ड्राइवर व ऑटो में बैठे और लोग भाग पाए, लेकिन क्योंकि यह लड़का बीच की सीट में सोया हुआ था, पकड़ा गया। पूरे हादसे में वह ही एक मुस्लिम पकड़ में आने पर, श्री राम सेना के सदस्यों का पूरा आक्रोश उसी पर निकला। 40 वर्षीया अंजुम जो कि पैदाइशी मुस्लिम नहीं हैं, पर जिन्होंने मुस्लिम व्यक्ति से शादी की थी अभी घरेलू हिंसा के कारण, तीन बेटियों के साथ अकेले ही रहती हैं। आज उनकी 13 और 10 साल की दो बेटियाँ, जिन 4 घरों में वे काम करती थीं, वहाँ झाड़ू-पोछे और बर्तन धोने का काम कर रही हैं ताकि जेल से माँ के छूटने तक



लेखिका बेघर बच्चों के बीच तथा महिला अधिकारों के लिए कार्य करती हैं।
+919425600382
shivani.shivanitan@gmail.com

उनकी मासिक तनख्वाह में कटौती ना हो। दिलीप, तीसरे व्यक्ति जिनको मारा गया, एक दलित धोबी परिवार से हैं। उनकी माँ और बहन इस्त्री करके और लोगों के टिफिन बनाकर घर चलाती हैं।

22 मई के दिन उपरोक्त लोगों के साथ क्रूरतम हिंसा करने वाले श्री राम सेना के लोगों में योगेश उइके, 19 वर्षीय आदिवासी गोंड युवा था। प्रमुख आरोपी शुभम बघेल, जिसने पूरे हादसे के लिए सबको प्रेरित किया और जो शहर भर में अपने साम्प्रदायिक कारनामों के लिए बदनाम है, के घर में परेशान माँ और नानी उसकी चिन्ता में हैं। हालांकि इन दोनों लड़कों की माँओं ने अपने बेटों द्वारा किए गये दुर्व्यवहार का बचाव करने की कोशिश की। दोनों ने यह भी बोला कि सबका भगवान एक है और वे नहीं चाहते थे कि उनके बच्चे इस रास्ते पर चलें। योगेश उइके का परिवार आदिवासी है और उन्होंने कहा कि अगर उसके शहर के दोस्त नहीं बनते, तो वह ऐसा नहीं बिगड़ता। हरेक माँ ने अपने जीवन के संघर्षों के बारे में बात करते हुए कहा कि कैसे मजदूरी कर-करके उन्होंने बच्चों को पाला है और कैसे बार-बार बच्चों को किसी काम में जुड़ने के लिए प्रेरित किया है। वे नेताओं से भी बहुत गुस्सा थीं कि सरकार ने आदेश दिया, तभी तो हमारे बच्चों ने ऐसा काम किया।

1991 से सिवनी ज्यादा साम्प्रदायिक हुआ है, हालांकि पहले भी यहाँ साम्प्रदायिक तनाव रहे हैं। 2016 में यहाँ चार बार कर्फ्यू लगाया गया था। उसके विपरीत इस दौरान जहाँ हिन्दुत्व राजनीति ने देश के एक-एक कोने में अपनी जड़ें फैलाने की कोशिश की है, देवास जिले के सोनकच्छ तहसील का पीपलरावा गाँव साम्प्रदायिक सौहार्द और शान्ति का प्रतीक रहा है।

2019 में हिंसा : 30 अप्रैल 2019 को होशंगाबाद जिले के सिवनी-मालवा तहसील के छपड़ा-गाहें पंचायत क्षेत्र में 33 वर्षीय दलित कार्यकर्ता, कमलेश राठोर को बजरंग दल के सदस्यों और पुलिस ने अगवाकर रातभर गालियाँ देते हुए पीटा और इसके बावजूद पुलिस ने कमलेश के ऊपर केस कर दिया है। कमलेश के साथ हुई हिंसा, और पहचाने गये अपराधियों के ऊपर केस दर्ज करने की उनकी शिकायत

पर कोई कार्यवाही नहीं हो रही है। आज भी तीनों अपराधी गाँव में खुले घूम रहे हैं और कमलेश पर शिकायत वापस लेने का दबाव बनाये हुए हैं।

इसी साल, आगर शहर में 29 जनवरी को 34 वर्षीय महबूब और 35 वर्षीय रोदूलाल मालवीय पर गौरक्षकों के एक दल ने हमला किया। पुलिस ने मौके पर आकर उन पर गाय के ट्रांसपोर्ट का केस कर दिया। यह आरोप कि वे लोग गाय को बुचड़खाना ले जा रहे थे, झूठा है। जमानत मिल जाने के बावजूद, 5 फरवरी को उन पर राष्ट्रीय सुरक्षा कानून (रासुका) लगाया गया। इसके एक दिन पहले ही, खण्डवा जिले के तीन और लोगों पर रासुका की धाराएँ लगाई गयीं। मध्य प्रदेश में गौ-ट्रांसपोर्ट और मांस-व्यापारियों पर कानूनी काम करने पर भी पैसे ऐंठना और भीड़-द्वारा हिंसा आम हो गयी है। इन सभी अपराधी मसलों में पीड़ितों पर ही कार्यवाही करने की चुस्ती पुलिस में दिखती है, न कि वास्तविक अपराधियों के ऊपर।

गायत्री सोनकर, सिमरन धुर्वे, विजय झोपाटे, अनोखी और सबा खान का पाँच सदस्यी जाँच दल, दो समुदायों के बीच हुई झड़प में एक दलित व्यक्ति की मौत के हादसे को समझने के लिए, पीपलरावा गाँव गया था। 29 मई की रात, यह लड़ाई तब हुई जब किसी बाहरी गाँव से शादी की बारात इस गाँव में दुल्हन के घर जा रही थी। पीपलरावा गाँव में दलित और मुस्लिम समुदायों के लोग शान्ति और एकजुटता के साथ पीढ़ियों से रह रहे हैं। एक छोटा तनाव का मसला 1954 में हुआ था और उसके बाद कभी नहीं। शादी में स्थानीय डीजे भी मुस्लिम समुदाय का था, और शादी के आमन्त्रण दोनों समुदायों के घरों में भेजे गये थे। लेकिन जब बारात मस्जिद को पार कर रही थी, जहाँ कि नमाज पढ़ी जा रही थी, तब बारात में आये युवाओं और मस्जिद के बाहर खड़े युवाओं के बीच झगडा हो गया। इस लड़ाई में, एक दलित व्यक्ति जो अपने घर से सबको शान्त करने के लिए निकले थे, उनको चोट लग गयी और उनकी मौत हो गयी।

दोनों समुदायों के बुजुर्गों और पुलिस का भी कहना है कि यह हादसा अचानक से हुई एक वारदात है। कर्फ्यू खत्म करने के लिए दोनों समुदायों के लोगों ने प्रशासन के सामने बात

रखी और लोगों को दुकानें खोलने के लिए प्रेरित किया। साझी बैठकें हुई हैं और शान्ति और सामंजस्य का संदेश गाँववालों ने ही फैलाया है। बार-बार सुनने में आया कि अगर सिर्फ गाँव के लोग होते या बुजुर्ग नमाज में नहीं होते, तो वो इस हादसे को ऐसा मोड़ नहीं लेते देते। पड़ोसी गाँव और छोटे शहरों से बजरंग दल के लोग अभी भी पीड़ित परिवार और दलित युवाओं को उकसाने में लगे हैं।

इन सभी कहानियों में, परिवारों में अपने नजदीकी और प्यारे बेटे, पति, पिता के गुजर जाने पर, या जेल में भाई, माँ, बेटे के बन्द होने की स्थिति में बेहद दर्द और चलती आयी गरीबी में और ज्यादा डूबने की परिस्थिति स्पष्ट है। हिन्दुत्व राजनीति युवाओं को बहुत क्रूर तरीकों से ताकत दे रही है। सर्वर्ण समाज द्वारा दलितों पर की गयी अत्याचार की वारदातें सिवनी और देवास में भरी पड़ी हैं। मुस्लिम युवा जीवन-यापन के लिए कोई भी काम के तरीके ढूँढ रहे हैं। इन सभी समुदायों के युवक कक्षा 5वीं से 10वीं के बीच में ड्राप-आउट हुए हैं।

ये जरूरी है कि नफरत और हिंसा की बीमारी को रोकने के लिए राज्य ठोस कदम उठाये। शिक्षा की खराब गुणवत्ता और बेरोजगारी की स्थिति में, श्री राम सेना, बजरंग दल इत्यादि से जुड़ना ताकत पाने और पैसे कमाने का एक जरिया नहीं हो सकता। हमारी माँग है कि गौ-हत्या या मांस की तस्करी में गिरफ्तार लोगों की सामाजिक-आर्थिक पृष्ठभूमि को देखा जाये और लोगों को तुरंत रिहा किया जाये ताकि उनके परिवार और पीड़ित नहीं हों। हमारी माँग है कि हिन्दुत्व राजनीति में फंसे युवा नागरिकों को पहचानकर 'पुनर्वास' किया जाय ताकि वे इंसानी जीवन जियें और देश में सकारात्मक योगदान दे सकें। हमारी यह भी माँग है कि किसी भी साम्प्रदायिक दंगे के पीड़ितों को उपयुक्त मुआवजा और नौकरी दी जाय, चाहे वे सतना की सईदा-उल-निसान हों जिनके दरजी पति की सतना में माँब लिंगिंग की वारदात में गये साल मौत हुई, या देवास में धर्मेन्द्र शिंदे की विधवा पत्नी प्रियंका हों।

इस हिन्दुत्व राजनीति में, इंसानियत गायब होती जा रही है। जरूरत है कि सभी नागरिक और राज्य सरकार साम्प्रदायिक नफरत और बढ़ते हुए ध्रुवीकरण के खिलाफ काम करें। □

महिलाओं को मुफ्त मेट्रो

दिल्ली

प्रेमपाल शर्मा

जो वर्ग लम्बी विदेशी गाड़ियों में घूमता हो, घर दफ्तर वातानुकूलित कक्षों में रहने का आदी हो, बच्चों को विदेश में पढ़ाता हो और हर वर्ष यूरोप और सिंगापुर घुमाता हो उससे तो और ज्यादा वसूला जाना चाहिए। जैसे विश्व स्तर पर भारत जैसे गरीब देशों के मुकाबले अमेरिका जैसे देश अपनी भकोसी प्रवृत्ति के कारण पर्यावरण का ज्यादा नुकसान कर रहे हैं, हमारे महानगरों के अमीर भी वैसे ही दोषी हैं। मुफ्त यात्रा अनैतिक असमानताओं को और बढ़ावा देगी।



लेखक पूर्व संयुक्त सचिव रेल मन्त्रालय तथा जाने-माने शिक्षाविद् हैं।
+919971399046
ppsharmar@gmail.com



किसानों, मछुआरों, बुनकरों और ऐसे सभी गरीबों को जिन्दा रहने के लिए कुछ राहत, धन देने की बात तो एक कल्याणकारी राज्य की जिम्मेदारियों के तहत समझ में आती है लेकिन दिल्ली सरकार का यह फैसला कि मेट्रो-बसों में महिलाओं को मुफ्त यात्रा की सुविधा दी जाएगी, समझ से परे है। पहले जवाब इस बात का कि किसानों के लिए ऐसी खैरात क्यों? चाहे यह पी एम-किसान के नाम पर हो या उड़ीसा की कालिया योजना या तेलंगाना की रैयतवाड़ी...। किसानों की कर्ज माफी या बिजली मुफ्त की शहरी मध्य वर्ग लगातार आलोचना करता रहा है। इसका जवाब सिर्फ यही है कि यदि किसान, मजदूर भूख से बिलबिलाता हुआ गाँव छोड़कर शहरों, महानगरों में पहुँचने को विवश हो गया तो शहरी मध्य वर्ग की विकास और मौज की सारी मस्ती हवा हो जाएगी। शहरों पर अभी भी ग्रामीण पलायन का बहुत दबाव है। इसलिए किसानों को जितनी भी रियायतें दी जा सकें दी जानी चाहिए। विशेषकर जब पिछले दो दशकों में दस लाख किसानों की आत्महत्या

की खबरें सुनने को मिल रही हों। वैसे किसानों को बजाय ऐसा पैसा देने के यदि उनको फसल, सब्जी, फल के उचित दाम मिलें, बिचौलिये आढ़ती उनकी अशिक्षा, गरीबी का शोषण न करें तो इस देश का किसान, प्रेमचन्द के गोदान का होरी कभी भी भीख या दान की बदौलत जिन्दा नहीं रहना चाहता। नयी सरकार को दूसरे विकल्प पर ध्यान देने की जरूरत है। यदि किसान को वाजिब दाम मिले तो उनके साथ काम करने वाले मजदूरों को भी सही मजदूरी सम्भव होगी। एक स्वावलम्बी कृषि व्यवस्था धीरे धीरे पनपने लगेगी।

लेकिन वोट की होड़ में दिल्ली की महिलाओं को मुफ्त यात्रा पास सरासर गलत विचार है। इसमें यदि गरीबी रेखा के नीचे रहने वाली महिलाएँ, बच्चियाँ शामिल हों तो एक बार बात समझ में आती है, लेकिन दिल्ली की केन्द्र सरकार, उपक्रमों, बैंकों, स्कूलों, कालिजों में कार्यरत और अच्छा वेतन/पेंशन पा रही महिलाओं को यह खैरात क्यों? जो वर्ग लम्बी विदेशी गाड़ियों में घूमता हो, घर दफ्तर वातानुकूलित कक्षों में रहने

का आदी हो, बच्चों को विदेश में पढ़ाता हो और हर वर्ष यूरोप और सिंगापुर घुमाता हो उससे तो और ज्यादा वसूला जाना चाहिए। जैसे विश्व स्तर पर भारत जैसे गरीब देशों के मुकाबले अमेरिका जैसे देश अपनी भकोसी प्रवृत्ति के कारण पर्यावरण का ज्यादा नुकसान कर रहे हैं, हमारे महानगरों के अमीर भी वैसे ही दोषी हैं। मुफ्त यात्रा अनैतिक असमानताओं को और बढ़ावा देगी।

दिल्ली जैसे महानगर में मुफ्तखोरी के ऐसे और भी कई कार्यक्रम पिछले दो-तीन दशक से पनपे हैं। मयूर विहार जैसे इलाके में भी सौ घरों की सरकारी आवासीय कॉलोनी के बीच में पार्क के रखरखाव के लिये हर साल एकाध लाख रुपये सरकार देती है। है न आश्चर्य और वर्षों से यह चल रहा है। तथाकथित प्रबन्धन समितियों के सदस्यों के चेहरे ऐसे पैसे से खिल उठते हैं। ये वही लोग हैं जो हर सरकारी स्कूल में मुफ्त शिक्षा, मिड-डे मील, ड्रेस पर सरकार के साथ साथ गरीबों को भी गाली देते हैं। आश्चर्य की बात कि इन सोसइटियों में वह सेक्यूलर बुद्धिजीवी भी रहता है जो गरीबों के लिए सबसे ज्यादा टसुए बहाता है। सरकार को लूटने के लिए ऐसे कई मुखौटे इस शहर में ईजाद किए गये हैं जैसे सीनियर सिटीजन क्लब मंच, सांस्कृतिक दस्ता आदि। सार्वजनिक पार्क में वातानुकूलित कमरे में योग, ताश, खेलने का अड्डा आदि भी। सरकारी मध्यवर्ग की सबसे आसान नेतागिरी। आवासीय कॉलोनियों को यदि पैसा दिया जा रहा है तो उन्हें ग्राउण्ड वाटर और सूर्य ऊर्जा की शुरुआत के लिए प्रोत्साहित किया जाए। एक नियमित कड़े निरीक्षण के तहत वरना ऐसा पैसा इनको परजीवी बना रहा है।

प्रश्न उठता है कि क्या देश इतना अमीर हो गया है जो पैसा उसकी तिजोरियों से फटकर बाहर निकला जा रहा है? देश की जनता तो यही सुनती आ रही है कि विश्वबैंक, अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष, एशियन बैंक से लिए कर्ज का ब्याज भी लाखों करोड़ों में भारत को चुकाना पड़ता है। फोर्ड फाउण्डेशन वैफेट, विल गेटस के अनुदान-दान अलग। जिस सत्ता को यह पैसा दिख रहा है उन्हें नहीं भूलना

चाहिए कि इस देश की लगभग बीस प्रतिशत आबादी को केवल एक वक्त खाना नसीब हो पाता है। देश की गरीबी के ऐसे ऐसे विवरण कि आत्मा कांप उठे। क्या भूल गये उड़ीसा के उन लोगों को जो आम की गुठलियों को खाकर मर गये थे। जमीन में दबी यह गुठलियाँ जहरीली हो गयी थीं। ऐसा ही एक 11 बर्षीय बच्ची का बयान था कि उसने कभी कोई सब्जी नहीं खायी। नमक चावल या चावल के पानी से जीवन चलता रहा है।

मेरे देश के कर्णधारों! नगर, महानगरों से बाहर भी देश है। यदि कुछ पैसा है तो गाँव-गाँव में अस्पताल बनाओ, टूटे स्कूलों की मरम्मत कराओ, उन सड़कों दगड़ो को ठीक करो जिन पर चलना मुश्किल है। शहरी मध्यवर्ग की अनन्त अतृप्त लिप्साओं, लालसाओं के चलते बार-बार उन्हीं के आसपास की सड़कों को ठीक करने के नाम पर ठेकेदार को जनता का पैसा मत लुटाओ। देश के अधिकांश हिस्सों में शुद्ध पीने का पानी नहीं है और ये राजा दिल्ली में ही रेवडियाँ बांट रहे हैं। दिल्ली में गरीब बस्तियाँ कम नहीं हैं और न गरीब कम। स्कूल-कॉलेजों की भी उतनी ही कमी है। इन सब के बीच मुफ्त पास यात्रा का तो ख्वाब भी अनैतिक है।

यदि वाकई आधी आबादी यानी कि महिलाओं के प्रति राजा संवेदनशील हैं तो उन्हें चाहिए सुरक्षा बलात्कार, लूटमारी से, हर तरह के शोषण से। निर्भया काण्ड से लेकर अब तक कई कानून तो बने हैं लेकिन दिल्ली महिलाओं के लिए दुनिया में सबसे असुरक्षित शहर माना जाता है। पुलिस के समानान्तर भी कोई व्यवस्था करनी पड़े तो कीजिये। हर सर्वे में दिल्ली, मुम्बई, चेन्नई, कोलकाता के मुकाबले हर मापदण्ड पर पीछे है। बावजूद इसके कि इसकी प्रति व्यक्ति आय राष्ट्रीय औसत से तीन गुना और देश में सबसे ज्यादा है। इसके बढ़ते राजस्व का कारण अनेक प्रकार के भू-सम्पदा कर, राष्ट्रीय राजधानी को मिलने वाली रियायतें और बिक्री कर आदि हैं लेकिन यह सब ऐसे उड़ाने के लिये नहीं है।



मैथिली में 'लहरि' नामक त्रैमासिक पत्रिका के प्रकाशन प्रारंभ कएल गेल अछि। ई पत्रिका सामाजिक, सांस्कृतिक, सहित्यिक एवं समकालीन मैथिली समाज के दर्पण क बनबाक के प्रयास करत। अपने लोकनि के रचनात्मक एवं गुणात्मक सहयोग एही पत्रिका के भविष्य बनौतैक। पत्रिका देखू, पढ़ू एवं मैथिली के आगां बढैबा में सहयोग करू! जय मैथिली!!

प्रधान सम्पादक

नरेन्द्र झा

कार्यकारी सम्पादक

भुवन झा

पत्रिका के सदस्यता राशि

एक वर्ष (चार अंक) : 100 टाका

दू वर्ष (आठ अंक) : 200 टाका

सम्पादकीय पता : भगवती पार्वती

मेंशन, ग्राउंड फ्लोर, बसंत बिहार,

हरमू, रांची-834002

सम्पर्क : 9431067635

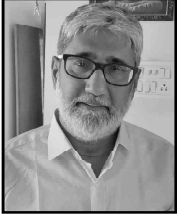
9471711557

bishwambherfoundation7591@gmail.com

डॉक्टरों की हड़ताल के निहितार्थ

पश्चिम बंगाल

आशुतोष



मुख्यमन्त्री ममता बनर्जी और जूनियर डाक्टरों के प्रतिनिधियों के बीच सभी माँगों पर खुली बातचीत हुई। डाक्टरों की प्रायः सभी माँगें मान ली गई हैं। डाक्टर

सन्तुष्ट हैं। उनमें मुख्यमन्त्री के प्रति सम्मान के भाव भी दिख रहे हैं।

डाक्टरों की सप्ताहव्यापी हड़ताल से बंगाल का जनजीवन अस्त-व्यस्त हो गया था। हजारों हजार मरीज प्रभावित हो रहे थे। चिकित्सा के अभाव में कइयों की जानें गईं। जिस घटना को केन्द्र में रखकर यह बेनजीर हड़ताल बुलाई गयी, वह पिछली कई ऐसी घटनाओं से अलग नहीं थी। 2018 में कोलकाता के पीयरलेस अस्पताल और 2017 में इसी महानगर के सीएमआरआई में भी इसीतरह का आक्रोश रोगियों के परिजनों ने व्यक्त किया था। बंगाल के अस्पतालों में ऐसी घटनाएँ प्रायः घटती रही हैं। डाक्टरों पर लापरवाही के आरोप लगते रहे हैं। 2017 में मुख्यमन्त्री सुश्री ममता बनर्जी ने इस मुद्दे को लेकर डाक्टरों के साथ मीटिंग भी की थी, जिसमें डाक्टरों की लापरवाही के बारे में उन्होंने अपनी नाराजगी जाहिर की थी।

नील रतन सरकार मेडिकल कालेज और अस्पताल, जिसे एनआरएस अस्पताल के नाम से ही सभी परिचित हैं, 11 जून 2019 सोमवार की रात को कोलकाता के टेंगरानिवासी 75 वर्षीय वृद्ध मु.सईद की मृत्यु दिल का दौरा पड़ने से हुई। मृतक के परिवारवालों को लगा कि मु.सईद की मौत डाक्टरों की लापरवाही से हुई है। डाक्टरों के अनुसार मु.सईद की मृत्यु के ठीक बाद से ही मृतक के परिवारवालों की तरफ से हाथापाई शुरू हो गई। मौके पर मौजूद पुलिस मूक दर्शक बनी रही। रात के करीब 11 बजे दो ट्रकों में लदकर बहुत से लोग आये और वे डाक्टरों को पीटने लगे।

20 से ज्यादा डाक्टरों की पिटाई की गई। ईंट के लगने से डा. परिबाह की माथे में बड़ी गहरी चोट आई। डा. परिबाह मुखर्जी को एक निजी अस्पताल में सर्जरी से गुजरना पड़ा। ईंट लगने से ही एक दूसरे डाक्टर यश टेकवानी को भी पंजरे और रीढ़ की हड्डियों में गहरी चोट आई। दोनों डाक्टर अभी खतरे से बाहर हैं।

नितांत स्वाभाविक था कि इस घटना के बाद एनआरएस के जूनियर डाक्टर भी आक्रोश में आ जाते। लेकिन प.बंगाल के सभी अस्पतालों में जूनियर डाक्टरों द्वारा चिकित्सा सेवाओं को रद्द कर दिया गया। राज्य में कुल 18 मेडिकल कालेज हैं। यह अभूतपूर्व था।

डाक्टरों की इस हड़ताल से हजारों हजार बीमार प्रभावित हुए। कई लोगों की मृत्यु तक हुई। इनमें बच्चे ज्यादा हैं। बाद में इंडियन मेडिकल एसोसिएशन ने भी इस हड़ताल को अपना समर्थन दिया। फलतः देशभर के डाक्टरों ने सांकेतिक हड़ताल में हिस्सा लिया। यह भी अभूतपूर्व था।

डाक्टरों की इस हड़ताल को इंडियन मेडिकल एसोसिएशन का समर्थन ही केवल नहीं मिला वरन् स्थानीय और राष्ट्रीय स्तर के मीडिया का भी बड़े पैमाने पर कवरेज मिला। जानकारों का मानना है कि इस हड़ताल को राजनीतिक रंग में रंगने की भरसक कोशिश हुई। इसे 2019 के लोकसभा चुनाव के परिणामों में भाजपा को प.बंगाल में मिली अप्रत्याशित 18 सीट का असर भी माना जाना चाहिए। प.बंगाल में चुनाव परिणाम के बाद से ही राजनीतिक अस्थिरता का दौर चल रहा है। एनआरएस मेडिकल कालेज और अस्पताल की घटना में यदि खास अल्पसंख्यक समुदाय नहीं जुड़ा होता, तो क्या आईएमए इसे राष्ट्रीय मुद्दा बनाने में रुचि लेता? शायद नहीं। इसके पीछे पूर्व के अनेक ऐसे दृष्टांत हैं, जहाँ इसी तरह की घटनाओं को आईएमए ने नजरअंदाज किया है। कर्नाटक के कारवाड़ में भाजपा के सांसद अनन्त हेगड़े ने एक डाक्टर की पिटाई

करने के बाद तीन और डाक्टरों को थप्पड़ और घूसे मारे। 2018 को दिल्ली में ही राव तुला राम अस्पताल में एक डाक्टर और एक पुलिसकर्मी की पिटाई हुई थी। इसी तरह की घटनाएँ पुणे और अहमदाबाद में हुईं। बी. आर.डी अस्पताल में कुख्यात आक्सीजन कांड में सरकार ने अपनी खामियों को छिपाने के लिए दो डाक्टरों डा.राजीव मिश्रा और डा.कफील खाँ को निलंबित कर दिया था। डा.कफील खाँ ने इस हड़ताल के दरम्यान ही आईएमए को लिखा कि वह उनके मामले पर भी विचार करे, वह भी एसोसिएशन का सदस्य है। यह एक तथ्य है कि आईएमए ने इन मामलों में कोई कार्रवाई नहीं की। अपने एक सर्वे का जिक्र करते हुए एसोसिएशन स्वयं कहता है कि 75 प्रतिशत डाक्टरों को रोगियों के परिजनों से दुश्वारी का सामना करना पड़ा है। फिर इस खास घटना के प्रति अतिरिक्त संवेदनशीलता का इजहार लोगों के मन में संदेह उत्पन्न करता है।

एन आर एस अस्पताल की उस शर्मनाक वारदात के बाद सोशल मीडिया में तरह तरह के अफवाह फैलाये गये। डा. परिबाह मुखर्जी की मृत्यु की सूचना तक दे दी गई। देखा गया कि हड़ताल के दौरान भाजपा बहुत अधिक सक्रिय हो गई। राजभवन की सक्रियता भी बहुत बढ़ गई। फिर मीडिया ने भी इस मामले को प्राइम टाइम में जगह दे डाली। ये कुछ ऐसे संयोग हैं, जो अमूमन खास कारणों से ही संभव हो पाते हैं।

डाक्टरों की प्रशंसा की जानी चाहिए कि उन्होंने साम्प्रदायिकता के माहौल में भी अपने सन्तुलन को बनाये रखा और अपनी माँगों में जनहित के सवालों को भी सामने रखा।

लेखक विद्यासागर महिला महाविद्यालय,
कोलकाता में हिन्दी के प्राध्यापक हैं।

+919874535401

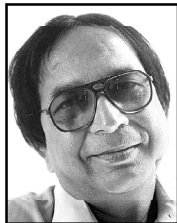
angashutosh@gmail.com

□

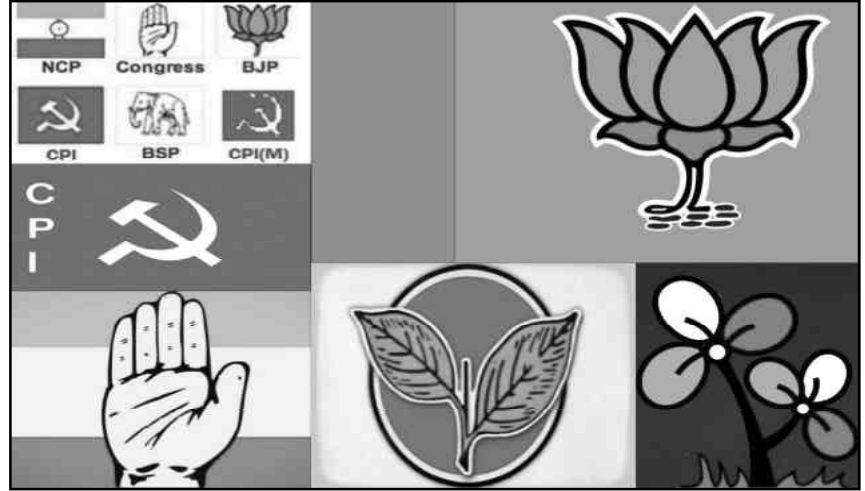
भारतीय राजनीति में भाजपा का वर्चस्व

रविभूषण

मोदी की 'टैक्नोपॉलिटिक्स' को समझना कठिन है इसे समझने और इसका सामना करने के लिए जिस मानस की आवश्यकता है, वह अभी बन नहीं रहा और जनमानस बदला जा रहा है। मतदाताओं के मानस को समझने की ज़रूरत है। क्यों सामान्य मतदाता धनपतियों और अपराधियों का चयन करता है? बलात्कारी, हत्यारे और अपराधियों को मतदाता क्यों चुनता है? क्यों वह उसे अपना प्रतिनिधि बनाता है? बेरोजगारी, असमानता, अपराध, बलात्कार, हिंसा और भय उसकी चिन्ता में क्यों नहीं है? जीवन के ज़रूरी और बड़े सवालों की चिन्ताएँ कम हैं।



लेखक जन संस्कृति मंच के राष्ट्रीय कार्यकारी अध्यक्ष हैं।
+919431103960
ravibhushan1408@gmail.com



सत्रहवीं लोकसभा के चुनाव-परिणामों का विवेचन-विश्लेषण, भारतीय राजनीति पर पड़ने वाले इसके प्रभाव और भारतीय जनमानस में होने वाले परिवर्तनों पर अभी काफी विचार होता रहेगा। अप्रत्याशित चुनाव-परिणाम सैद्धान्तिक और व्यावहारिक दोनों स्तरों पर सोचने को हमें बाध्य करते हैं। क्यों इस चुनाव में बेकारी, जी एस टी के खराब कार्यान्वयन, नोटबन्दी, लिंचिंग, हिन्दुत्व, संस्थाओं पर प्रहार, बौद्धिकों को दी जा रही धमकी, इवीएम से छेड़छाड़, सैन्य शक्तियों का राजनीतिकरण, रॉफेल डील, मीडिया की भूमिका, साम्प्रदायिक विद्वेष, कृषि संकट जैसे वास्तविक मुद्दे गौण हो गये और सैन्य धार्मिक राष्ट्रवाद का मुद्दा एकमात्र मुद्दा बन गया? सारे दल लगभग कुछ को छोड़कर हाशिये पर चले गये और मतदाताओं ने नरेन्द्र मोदी को एक मात्र उद्धारक और तारणहार मान लिया। भारतीय राजनीति में इसके पहले भी नेहरू और इन्दिरा गाँधी को उद्धारक माना गया था, उन पर जनता ने विश्वास किया था, पर उस समय काँग्रेस का भी अपना महत्त्व था। नरेन्द्र मोदी अपने दल से कहीं अधिक विश्वसनीय और शक्तिशाली बने।

काँग्रेस, वामदल और अन्य कई क्षेत्रीय दल अवाक और हतप्रभ हैं कि ऐसा कैसे हो गया? काँग्रेस का वोट प्रतिशत 19.5 से बढ़कर 22 प्रतिशत हुआ, सीट भी 44 से बढ़कर 52 हुई, पर उसका सारा अनुमान धरा का धरा ही रह गया। 14 राज्यों (राजस्थान, गुजरात, उड़ीसा, हिमाचल प्रदेश, दिल्ली, हरियाणा, जम्मू एवं कश्मीर, उत्तराखण्ड, आंध्र प्रदेश, सिक्किम, अरुणाचल प्रदेश, मणिपुर, मिजोरम, त्रिपुरा) और केन्द्र शासित राज्यों में उसे एक भी सीट नहीं मिली है, केवल केरल में वह दहाई अंकों में सीट प्राप्त कर सकी, केरल से उसके 15 सांसद हैं। वामदल को ऐसी करारी हार कभी नहीं मिली थी। पश्चिम बंगाल में वह एक भी सीट प्राप्त नहीं कर सकी, केरल में उसकी सरकार है, पर वहाँ माकपा को मात्र एक सीट मिली है और वहाँ उसका वोट मात्र 12 प्रतिशत है। भाजपा एक दक्षिणपन्थी पार्टी है और भारतीय राजनीति में वह अपनी वर्चस्वावस्था में है। राहुल गाँधी काँग्रेस का संघर्ष वैचारिक मानते हैं। काँग्रेस की विचारधारा न दक्षिणपन्थी है, न वामपन्थी। वह इन दोनों के बीच झूलती रही है। एक

मध्यमार्गी पार्टी भर रही, है काँग्रेस। क्या अब भारतीय राजनीति से वामपन्थी और मध्यमार्गी विचारधारा का सफाया हो गया है? सफाया तो नहीं हुआ है, पर भाजपा ने और मोदी ने इन्हें हाशिये पर ठेल अवश्य दिया है। 2014 के लोकसभा चुनाव के बाद भारत के दक्षिणपन्थी राजनीति के वर्चस्व के बाद अब यह महावर्चस्व का दौर है, जिसके समक्ष अन्य राजनीतिक दल कतिपय अपवादों को छोड़कर संकट की स्थिति में हैं। उनके गौरवशाली दिन बीत चुके हैं, वर्तमान सामने है और भविष्य की उनके पास कोई रूपरेखा नहीं है।

भाजपा अन्य सभी राजनीतिक दलों से भिन्न और विशिष्ट है। उसकी भिन्नता और विशिष्टता का मुख्य आधार वह गर्भ है, जहाँ से वह उत्पन्न हुई है। आर एस एस के बिना भाजपा इस मुकाम पर कभी नहीं पहुँच सकती थी। आडवाणी ने अपनी रथ-यात्रा से जो गति प्रदान की थी मोदी ने अपने 'गुजरात मॉडल' से उसे इतनी तीव्र गति दी, कि अन्य राजनीतिक दलों को भारी झटके लगे। कई ऐसे गिरे, जिसकी उन्होंने कल्पना नहीं की थी। आडवाणी और नरेन्द्र मोदी में अन्तर है। आडवाणी ने अयोध्या और राम को केन्द्र में रखकर भारतीय राजनीति का एक साम्प्रदायिक रूप तैयार किया। मोदी ने उसे थोड़ा किनारा कर विकास की बात की। धर्म की राजनीति से 'विकास' की राजनीति जुड़ी। उनके पहले ऐसा सम्मिश्रण किसी ने तैयार नहीं किया था। विकास के काँग्रेसी अथवा मनमोहन सिंह, नरसिम्हाराव के मॉडल और भाजपा तथा नरेन्द्र मोदी के मॉडल में कोई अन्तर नहीं है। मार्ग एक है, पर मोदी की गति और रफ़्तार इतनी तेज है कि उसके सामने कोई ठहर नहीं सकता। गठबन्धन और महागठबन्धन के सारे प्रयोग असफल रहे। बिहार में राजद और रालोसपा को, उत्तरप्रदेश में रालोद को, हरियाणा में भारालोद को और जम्मू-कश्मीर में पीडीपी को एक भी सीट नहीं मिली। झारखण्ड में झाविमो (बाबूलाल मराण्डी) के साथ भी यही हश्र हुआ। पश्चिमी बंगाल में तृणमूल काँग्रेस का लगभग 4 प्रतिशत वोट बढ़ा—39.79 से 43.57, पर उसकी 11 सीट घटी। 2014 में उसके 34 सांसद थे और अब केवल 23 सांसद हैं। वहाँ 15 प्रतिशत वोट वाम दल का घटा। 2014 में जो वोट प्रतिशत 22.96

था वह अब मात्र 7 प्रतिशत है। कर्नाटक में जनता दल सेकुलर और काँग्रेस की सरकार है, पर वहाँ उन दोनों दलों के केवल सांसद ही नहीं घटे अपितु लगभग 11 प्रतिशत वोट भी घटा। 52.22 प्रतिशत से घट कर 41.79 हो गया और दोनों दलों के मात्र एक-एक सांसद विजयी रहे।

इस चुनाव में भाजपा की 21 सीटें बढ़ीं और काँग्रेस की मात्र 8। भाजपा केरल, तमिलनाडु और आंध्र प्रदेश को छोड़कर देश के सभी हिस्सों में फैलती गयी है। काँग्रेस कहीं अधिक सिकुड़ती गयी। एनडीए की सीटों में भी वृद्धि हुई। 2014 में एन डी ए को कुल 336 सीटें थीं। इस बार 17 सीटों का इजाफा हुआ और अब राजग के 353 सांसद हैं। संग्रग (यू पी ए) की सीट 60 से बढ़कर 92 हुई, पर वह सौ संख्या तक नहीं पहुँच सकी। सर्वाधिक नुकसान उन दलों को हुआ, जो इनमें से किसी भी गठबन्धन में शामिल नहीं थे। उनकी 50 सीटें कम गयीं। पहले वे 147 थे, अब मात्र 97 हैं। इन दलों में तृणमूल काँग्रेस की 12, बीजू जनता दल की 6, तेलंगाना राष्ट्रसमिति की 2, माकपा की छह, आप की 3, तेदेपा (तेलगु देशम पार्टी) की 13 और ए आई यू डी एफ (ऑल इंडिया युनाइटेड डेमोक्रेटिक फ्रंट, असम) की 2 सीटें घटीं। पी डी पी शून्य पर सिमटी और सपा पाँच सीट पर कायम रही। लोकसभा की 543 सीटों में से भाजपा ने कुल 437 सीटों पर अपने प्रत्याशी खड़े किये थे, जिनमें 303 जीते। इनमें 270 निवर्तमान सांसद हैं। हिन्दी प्रदेश भाजपा का गढ़ है। दस हिन्दी राज्यों की कुल 225 सीटों में से उसके 177 सांसद हैं, कुछ प्राप्त सीटों (303) में आधा से अधिक। हिन्दी प्रदेश से अलग भाजपा को मात्र 126 सीटें प्राप्त हुई हैं। हिन्दीतर प्रदेशों में गुजरात और महाराष्ट्र उसके गढ़ हैं। पश्चिम भारत में इन दो राज्यों के साथ अगर राजस्थान और गोवा को जोड़ें तो इन चार राज्यों की कुल 101 सीटों में से उसे 92 सीटें प्राप्त हुई हैं। प्रत्येक जाति और समुदाय में उसने अपनी पैठ बनायी है। ध्यान दिया जाना चाहिए कि 2009 के बाद मतदान का प्रतिशत बढ़ रहा है और भाजपा का वोट प्रतिशत भी बढ़ रहा है। सीट-संख्या भी बढ़ रही है। 2014 में 8 प्रतिशत मतदान बढ़ा—58.2 प्रतिशत से बढ़कर 66.4 प्रतिशत हुआ और

2019 में भी 1.5 प्रतिशत मतदान बढ़ा है।

भाजपा ने काँग्रेस को हिन्दी प्रदेश से पूरी तरह खदेड़ दिया है। अमेठी से राहुल गाँधी, भोपाल से दिग्विजय सिंह और गुना से ज्योतिरादित्य सिंधिया की हार सामान्य घटना नहीं है। हिमाचल प्रदेश, दिल्ली, हरियाणा, राजस्थान और उत्तराखण्ड से काँग्रेस पूरी तरह बाहर की जा चुकी है। इन पाँच राज्यों में से उसका एक भी सांसद नहीं है। जबकि 2014 में उसका एक सांसद हरियाणा से था। शेष पाँच राज्यों में से उसके केवल 6 सांसद हैं—उत्तरप्रदेश की 80 सीटों, बिहार की 40 और मध्यप्रदेश की 29 सीटों में मात्र एक-एक सांसद। झारखण्ड से भी मात्र एक सांसद और छत्तीसगढ़ से केवल दो। हिन्दी प्रदेश की 225 सीटों में से काँग्रेस के मात्र 6 सांसदों का होना यह साबित करता है कि भविष्य उसका यहाँ अन्धकारमय है। काँग्रेस में आपसी फूट कभी कम नहीं हुई, जबकि भाजपा में कहीं किसी प्रकार की फूट नहीं है। वह एक अनुशासित और अपनी विचारधारा के प्रति पूर्णतः समर्पित पार्टी है। कवि नागार्जुन ने पचास के दशक में ही काँग्रेसियों की आपसी लड़ाई की बात अपनी एक कविता में कही है—“निजी स्वार्थ के आगे कुछ भी नहीं दिखाई पड़ता है। काँग्रेसी ही काँग्रेसी से देखो कैसे लड़ता है।”

चुनाव और चुनाव परिणाम पर बात करते समय लम्पट (क्रोनी) पूंजीवाद की बात कम की जाती है जो आज देश में बुरी तरह फैल चुका है। चुनाव पहले इतना खर्चीला नहीं होता था। लोकसभा चुनाव का सारा खर्च केन्द्र के जिम्मे है। अब चुनाव का रूप-स्वरूप सब कुछ बदल चुका है। पुराने चश्मे से इसे देखा नहीं जा सकता। अब सोशल मीडिया पर खर्च पहले की तुलना में 20 गुना अधिक है। धनाढ्य प्रत्याशियों की ही नहीं धनाढ्य सांसदों की भी संख्या बढ़ रही है। संसद में करोड़पतियों और अपराधियों की संख्या बढ़ रही है। पहले लोकसभा चुनाव (1952) से मतदाताओं की संख्या पांच गुना से अधिक बढ़ी है। इस चुनाव में 90 करोड़ मतदाता थे। प्रत्येक मतदाता पर जो खर्च 1952 में 60 पैसे था, अब वह बढ़कर 60 रुपये हो गया है। चुनाव में शराब की हजारों-लाखों बोतलें जब्त हुई हैं, नशीले पदार्थ पकड़े गये हैं और जब्त की गयी नगदी

3456 करोड़ रुपये है। आदर्श आचार संहिता का उल्लंघन प्रधानमंत्री और भाजपा अध्यक्ष दोनों ने किया, पर निर्वाचन आयोग सोया रहा। निर्वाचन आयोग की निष्पक्षता पर सवाल लगे। इवीएम के दुरुपयोग पर सवाल खड़े किये गये, बताया गया कि कई विकसित देशों ने इसका इस्तेमाल बन्द कर दिया है, पर इसकी अनदेखी की गयी। भाजपा प्रवक्ता जी. वी. एल. नरसिम्हा राव की 2010 में इस पर पुस्तक प्रकाशित हुई थी—“डेमोक्रेसी : एट रिस्क : कैन वी ट्रस्ट इलेक्ट्रॉनिक वोटिंग मशीन। इस चुनाव में सन्देह और घना हुआ है। सवाल पूछने का भी अधिक अर्थ नहीं रह गया है, फिर भी सवाल पूछे जा रहे हैं और पूछे जाते रहेंगे भी।

राजनीतिक दलों की संख्या बढ़ती जा रही है। प्रत्याशियों की संख्या में भी वृद्धि हो रही है। इस चुनाव में कुल प्रत्याशियों की संख्या 8 हजार 49 थी। अब चुनाव का खर्च अरबों डॉलर का है। इस लोक सभा चुनाव का अनुमानित खर्च 60 हजार करोड़ रुपये आंका गया है। प्रत्येक प्रत्याशी को 50 से 70 लाख रुपये खर्च करने की इजाजत है। वास्तविक खर्च इससे कई गुना अधिक है। करोड़ों रुपये खर्च कर चुनाव लड़ने का वास्तविक प्रयोजन क्या है? नागार्जुन ने 1972 की अपनी एक कविता में चुनाव को ‘प्रहसन’ कहा था। भारतीय राजनीति से सारे स्वस्थ, आदर्श और नैतिक मूल्य गायब हो चुके हैं। किसी भी प्रकार से चुनाव जीतना सबसे बड़ा लक्ष्य है। भाजपा की संगठन-शक्ति और आर्थिक क्षमता का मुकाबला सभी राजनीतिक दल मिलकर भी नहीं कर सकते। नरेन्द्र मोदी ने भारतीय चुनाव और राजनीति का पूरा ‘नैरेटिव’ बदल डाला है। उन्होंने जो ‘आख्यान’ निर्मित किया है, उसे कम समझा जा रहा है, उनकी राजनीति ‘नयी राजनीति’ है जिसका मुकाबला ‘पुरानी राजनीति’ नहीं कर सकती। यह नयी राजनीति अनेक रूप रंगों की है। मोदी की ‘टैक्नोपॉलिटिक्स’ को समझना कठिन है इसे समझने और इसका सामना करने के लिए जिस मानस की आवश्यकता है, वह अभी बन नहीं रहा और जनमानस बदला जा रहा है। मतदाताओं के मानस को समझने की ज़रूरत है। क्यों सामान्य मतदाता धनपतियों और अपराधियों का चयन करता है? बलात्कारी, हत्यारे और अपराधियों को मतदाता क्यों चुनता है? क्यों



वह उसे अपना प्रतिनिधि बनाता है? बेरोजगारी, असमानता, अपराध, बलात्कार, हिंसा और भय उसकी चिन्ता में क्यों नहीं है? जीवन के जरूरी और बड़े सवालों की चिन्ताएँ कम हैं।

फिलहाल देश में सात राष्ट्रीय दल हैं—काँग्रेस, भाजपा, भाकपा, माकपा, बसपा, राकापा, और तृणमूल काँग्रेस-भाजपा जहाँ पूरे देश में फैल चुकी है, वहाँ अन्य छह राष्ट्रीय दल कमजोर होते गये हैं। इस चुनाव में भाजपा को 303, काँग्रेस को 52, भाकपा को 2, माकपा को 3, राकापा को 5, बसपा को 10 और तृणमूल काँग्रेस को 23 सीटें प्राप्त हुई हैं। भाजपा को छोड़कर शेष सभी छह राष्ट्रीय दलों को मात्र 95 सीटें प्राप्त हैं। जिनमें केवल बसपा और काँग्रेस की सीट कुछ बढ़ी है और सबकी सीट घटी है। अब भाजपा का सामना करने की शक्ति किसी भी दल या ‘गठबन्धन-महागठबन्धन’ में नहीं है। भारतीय राजनीति पूरी तरह दक्षिणमार्गी हो चुकी है। किसी भी क्षेत्रीय दल का प्रमुख कार्यक्षेत्र क्षेत्र और प्रदेश-विशेष है। वे अपने राज्य में अपने को बचाने में लगे रहेंगे। राष्ट्रीय चिन्ता और सरोकारों का सवाल उनके लिए बाद का है। लोकसभा से विपक्ष गायब है। लोकतंत्र में संख्या-बल सब कुछ है। भाजपा के पास सब बल है। संख्या-बल, धन-बल और सभी प्रकार के बल। फिर मोदी जैसा करिश्माई नेता उसके पास है। भारत में हिन्दुओं की आबादी अधिक है और 2014 के बाद भारतीय मानस हिन्दू मानस में बदला जा रहा है। भारतीय मानस का हिन्दूकरण लगातार हो रहा है और बहुसंख्यक मध्यवर्ग अपनी निजी, सुरक्षित दुनिया में प्रसन्न है। राजनीतिक विचारधाराएँ

कमजोर पड़ रही हैं। ‘समाजवादी’ और रामविलास पासवान जैसे दलित नेता भाजपा के साथ हैं। स्पष्ट विशाल बहुमत प्राप्त करने के बाद भी भाजपा अपने साथ अन्य दलों को लेकर कहीं अधिक सुदृढ़ है।

अब भारतीय राजनीति की शक्लो सूरत क्या होगी? भाजपा के पास ‘हिन्दुत्व’ की विचारधारा है। इसकी काट केवल वामपन्थी-समाजवादी प्रगतिशील और धर्मनिरपेक्ष विचारधारा ही कर सकती थी, जो अब कोने में पड़ी हुई है। भारतीय राजनीति मात्र चुनाव में सिमट कर हाँफ रही है। भाजपा आर एस एस का राजनीतिक संगठन है और फिलहाल दूर-दूर तक इन्हें चुनौती देने वाली शक्तियाँ गायब हैं। अब वे अकादमिक क्षेत्रों में भी कम हैं क्योंकि अकादमिक संस्थाओं को पहले ही रीढ़विहीन कर दिया गया है। विश्व में जो लहर चल रही है। वह लोकलुभावनवाद (पॉपुलिज्म) की है, जिसका वर्तमान पूँजीवाद से सम्बन्ध है। यह उदारतावाद के लिए संकटग्रस्त समय है, लोकतन्त्र के लिए भी। राजनीतिक दलों को अपने संकीर्ण-स्वार्थी सोच को त्यागना होगा। चरम उपभोक्तावाद के दौर में यह कठिन है। भारतीय राजनीति के नये सिरे से उठने, खड़े होने और जगे रहने का समय है। महात्मा गाँधी के 150 वें वर्ष में यह कठिन प्रतीत होता है, पर आजादी की पचहत्तरवीं वर्षगाँठ में यह स्पष्ट हो जाएगा कि आजादी की लड़ाई हमने क्यों लड़ी थी? किसके लिए लड़ी थी? वर्तमान की समस्याओं-चुनौतियों से दूर होकर इतिहास के जयगान का कोई अर्थ नहीं है।

□

क्या सचमुच होती हैं परियाँ?

खुला दरवाजा

ध्रुव गुप्त

परियाँ दुनिया के हर भूभाग की लोकगाथाओं और लोकगीतों का हिस्सा रही हैं। ज्यादातर लोकगाथाओं के अनुसार छोटे कद की परियों की खूबसूरत प्रजाति दूसरे लोकों से आकर रहने वाली पृथ्वी की सबसे पहली निवासी थीं। बाद में स्वार्थी और हिंसक मानव प्रजाति के उदय और विस्तार के कारण धीरे-धीरे उन्होंने धरती से दूरी बना ली। कुछ यूरोपीय संस्कृतियों, यहाँ तक कि भारतीय संस्कृति में भी मनुष्यों और परलोकवासी परियों के बीच प्रेम, विवाह और यौन-सम्बन्ध के कई उल्लेख मिलते हैं।



लेखक भारतीय पुलिस सेवा के पूर्व अधिकारी तथा कवि एवं कथाकार हैं।
+919934990254
dhruva.n.gupta@gmail.com



दुनिया की तमाम संस्कृतियों, कला और साहित्य में कुछ ऐसी रहस्यमय और तर्क से परे चीजें हैं जिन्हें हमने देखा तो नहीं, लेकिन जो अनन्त काल से हमारी सोच और जीवन की हिस्सा रही हैं। देवदूत, राक्षस, शैतान और परियाँ उनमें शामिल हैं। उनमें से परियों ने हमारी कल्पनाओं को सबसे ज्यादा उड़ान दी है। स्त्रियों की सी शक्ल-सूरत लेकर किसी दूसरे लोक से आने वाली, अपनी जादुई शक्ति के बल पर पंखों से ऊँची उड़ान भरने वाली, छोटे कद और असीम सौन्दर्य वाली शर्मीली परियाँ हमेशा से बच्चों का ही नहीं, बड़े लोगों और दुनिया भर के साहित्यकारों की कल्पनाओं का भी अहम हिस्सा रही हैं। परी मतलब एक ऐसी अलौकिक प्राणी जो बच्चों को बेहद प्यार करती हैं। उनका मन बहलाने के लिए हाथ पकड़ कर उन्हें रहस्यमय परिलोक की सैर पर ले जाती हैं। बेसहारा, दुखी बच्चों और भले लोगों को मदद और दुष्टों को दण्ड देती हैं। परियाँ हर युग में स्त्री सौन्दर्य का प्रतिमान भी रही हैं। आखिर कौन हैं ये परियाँ? मानवीय कल्पना की उड़ान या सच में इनका

कहीं कोई अस्तित्व भी रहा है?

विज्ञान परियों को मानवीय फंतासी मानता है। ईश्वर, देवी-देवताओं, परलोक, राक्षस, शैतान, प्रेतात्माओं और स्वर्ग-नरक की तरह मानव मन की अनूठी कल्पनाओं में से एक। उसके अनुसार परियों की कल्पना के पीछे आदिकाल से लोगों में चला आ रहा यह विश्वास है कि दुनिया की सभी चीजों-हवा, जंगल, पेड़, फल-फूल, नदी, झरनों, पहाड़ों, पत्थरों और यहाँ तक कि परछाइयों तक में आत्मा है जो हमारे जीवन को प्रभावित और नियन्त्रित कर सकती है। कालान्तर में हमें प्रभावित कर सकने वाले प्रकृति के इन सभी अवदानों का लोगों ने मानवीयकरण किया। परियाँ मानवीकरण की इसी प्रक्रिया की उपज हैं। यह बात सही तो लगती है, लेकिन यह सवाल तो तब भी अनुत्तरित रह जाता है कि परियाँ अगर वाकई कल्पना की उड़ान हैं तो यह कैसे सम्भव हुआ कि प्राचीन दुनिया में जब लोगों के बीच कोई आपसी सम्पर्क नहीं था तब परियों की लगभग एक जैसी कथाएँ एक साथ दुनिया भर की लोकगाथाओं, गीतों,

कल्पनाओं, स्वप्नों और साहित्य का हिस्सा कैसे बन गयीं? परग्रही प्राणियों के शोधकर्ता मानते हैं कि परियाँ प्राचीन काल में दूसरे ग्रहों से धरती पर आने वाले एलियन थीं जिनकी उड़ने की क्षमता और मानवोत्तर शक्तियों के आगे लोग नतमस्तक हुए। कालान्तर में मौखिक परम्परा से परियों के रूपरंग के साथ उनकी दयालुता, निश्चल बाल प्रेम, असाधारण शक्तियों और चमत्कार के किस्से-दर-किस्से जुड़ते चले गये। परामनोविज्ञान मानता है कि परियाँ हमारी पृथ्वी के वातावरण में रहने वाली दूसरे आयामों की जीव हैं। प्रकृति ने उन्हें अपने जंगलों, वृक्षों, फूलों, नदियों और झरनों की देखभाल का जिम्मा सौंपा है। वे पृथ्वी के सौन्दर्य की रक्षा करने वाली छोटी-छोटी अभौतिक अस्तित्व हैं जो आमतौर पर हमारी नजरों से अदृश्य ही रहती हैं। उन्हें देखा जा सकता है, लेकिन यह देखना सामान्य आँखों से सम्भव नहीं। उन्हें देखने के लिए हमें चेतना के उस स्तर तक जाना होगा जो स्तर छोटे बच्चों, बहुत मासूम और सरल लोगों का होता है। दुनिया भर में बच्चे और मानसिक तौर पर अविकसित माने जाने वाले लोग परियों को देखने, उनके साथ बातें करने और उनके साथ खेलने की बात करते ही हैं।

परियाँ दुनिया के हर भूभाग की लोकगाथाओं और लोकगीतों का हिस्सा रही हैं। ज्यादातर लोकगाथाओं के अनुसार छोटे कद की परियों की खूबसूरत प्रजाति दूसरे लोकों से आकर रहने वाली पृथ्वी की सबसे पहली निवासी थीं। बाद में स्वार्थी और हिंसक मानव प्रजाति के उदय और विस्तार के कारण धीरे-धीरे उन्होंने धरती से दूरी बना ली। कुछ यूरोपीय संस्कृतियों, यहाँ तक कि भारतीय संस्कृति में भी मनुष्यों और परलोकवासी परियों के बीच प्रेम, विवाह और यौन-सम्बन्ध के कई उल्लेख मिलते हैं। इस पृथ्वी का कोई पुरुष चाहे तो परियों से प्रेम और ब्याह कर सकता है, लेकिन इस असामान्य रिश्ते की शर्तें बहुत कड़ी हैं। इनमें से किसी एक भी शर्त के उल्लंघन से ये रिश्ते न केवल टूट जा सकते हैं, बल्कि इन्हें तोड़ने की कीमत मनुष्य को अपनी जान देकर भी चुकानी पड़ सकती है। मनुष्यों के परियों से विवाह की यह शर्त सुनकर क्या महाभारत के शान्तनु की

अलौकिक गंगा के साथ और ऋग्वेद के पुरुवा की देवलोक की अप्सरा उर्वशी के साथ सशर्त विवाह की याद नहीं आती? उर्वशी और गंगा ने अपने भावी पतियों के आगे विवाह की जो शर्तें रखीं, वे मानवीय तो कतई नहीं थीं। दोनों अपने मानवीय पतियों द्वारा विवाह की शर्तों के उल्लंघन के बाद बहुत निर्ममता से उनसे तमाम नाते तोड़कर अपने-अपने लोक लौट गयी थीं।

परियों के प्रति भरोसा आज के वैज्ञानिक युग में कम तो हुआ है, समाप्त नहीं हुआ है। कुछ दक्षिण अमेरिकी देशों, स्कॉटलैण्ड और आयरलैण्ड में आज भी कुछ ऐसे इलाके हैं जिन्हें परियों का क्षेत्र कहकर सम्मान दिया जाता है। ऐसे इलाकों में न तो विकास के कार्य होते हैं और न पेड़ों की कटाई की जाती है। आयरलैण्ड में शानोन एयरपोर्ट के आसपास ऐसा ही एक चर्चित क्षेत्र है जिसे स्थानीय लोग परियों का देश कहते हैं। सदियों से लोग इस इलाके के पर्यावरण में किसी भी मानवीय हस्तक्षेप से बचते रहे हैं। कुछ दशक पहले जब वहाँ एयरपोर्ट के रनवे के विस्तार की कोशिशें हुईं तो अजीबोगरीब घटनाएँ घटने लगीं। कभी मशीनें टूट जातीं, कभी औजार हवा में उड़ने लगते और कभी वहाँ काम करने वाले मजदूर रहस्यमय ढंग से घायल या मृत पाए जाते। इन उत्पातों की वजह जानने के लिए वैज्ञानिकों की एक टीम लगाई गयी, लेकिन किसी की समझ में कुछ नहीं आया। अन्ततः सरकार को उस क्षेत्र में रनवे के विस्तार का काम रोक देना पड़ा था। इस बहुचर्चित घटना के बाद परामनोवैज्ञानिकों का ध्यान इस इलाके की तरफ आकृष्ट हुआ। हमारे अपने देश में हिमालय के टिहरी गढ़वाल में बुग्याल कहे जाने वाले हरी-भरी घास के मैदान हैं जिनमें आज भी परियों को देखने और उनके द्वारा जरूरतमंद लोगों की मदद करने के किस्से सुने-सुनाए जाते हैं। ये परियाँ वहाँ के लोगों की सोच का अभिन्न हिस्सा हैं। परियों की सकारात्मक ऊर्जा के प्रति उनका विश्वास इतना गहरा है कि उन्होंने वहाँ परियों का एक मन्दिर भी बना रखा है। हर साल रक्षा-बन्धन के दिन लोग इस मन्दिर में रक्षा-सूत्र बान्धकर अपनी, अपने परिवार और गाँव की रक्षा का वरदान माँगते हैं।

परियों की खोज में एक प्रामाणिक और विश्वसनीय तथ्य तब जुड़ा जब पिछले साल वेल्श रैप ग्रुप के कलाकार जॉन रुतलेदगे एक कार्यक्रम के सिलसिले में साउथ वेल्स के भ्रमण पर थे। उन्होंने वहाँ के खूबसूरत मैदानों के कई फोटोग्राफ लिए। घर लौटकर जब उन्होंने तस्वीरें खोलकर देखीं तो उन्हें अपनी आँखों पर यकीन नहीं हुआ। कई तस्वीरों में नन्ही लड़कियों जैसी कई छोटी-छोटी जीव कैद थीं। उनके हाथ-पैर भी थे और चिड़ियों की तरह उनके पंख भी। वे सभी हवा में उड़ रही थीं। अखबारों में इन तस्वीरों की चर्चा के बाद कई वैज्ञानिक प्रयोगशालाओं ने इन दुर्लभ तस्वीरों की जाँच की और पाया कि तस्वीरें असली हैं और उनके साथ कोई छेड़छाड़ नहीं की गयी है। क्या वे परियों की तस्वीरें थीं? जॉन की इन तस्वीरों के वायरल होने के बाद दुनिया भर के परामनोवैज्ञानिकों ने गम्भीरता से परियों के अस्तित्व की खोज शुरू कर दी है। इस घटना से यह तो साबित हो गया है कि परियाँ हमारी आँखों की जद से भले बाहर हों, उन्नत तकनीक वाले कैमरों से उन्हें पकड़ा जा सकता है। क्या पता तकनीक की सहायता से ये अलौकिक परियाँ किस्से-कहानियों से निकलकर कभी सचमुच हमारी जिन्दगी का हिस्सा बन जाएँ!

आज की परिस्थितियों में निश्चित तौर पर नहीं कहा जा सकता कि परियाँ सच हैं या कल्पना, लेकिन वे हमेशा से हमारी जिन्दगी का हिस्सा रही हैं और आगे भी रहेंगी। आज के वैज्ञानिक युग में भी परियों के प्रति दुनिया भर के बच्चों और बड़ों का आकर्षण कम नहीं हुआ है। सिर्फ परियों का नाम बदल गया है। अब उनको 'एलियन' कहा जाता है। पंखों के बजाय बड़े-बड़े यानों से दूरस्थ ग्रहों और उपग्रहों से पृथ्वी पर उतरने वाले छोटे कद के मनुष्यों-से दिखने वाले प्राणी। पिछली एक सदी में दुनिया के लगभग हर भाग में लोगों ने इन विचित्र परग्रही प्राणियों को देखने और उनसे मिलने के दावे किये हैं। क्या फर्क पड़ता है कि आज के बच्चे परियों की जगह असाधारण शक्तियों वाले एलियन के बारे में सोचते हैं, उनके सपने देखते हैं, उनसे मिलने की कल्पना करते हैं और उनके साथ आकाश की अनन्त ऊँचाइयों में उड़ जाना चाहते हैं।

□

साहित्य, समाज और राजनीति

ऑखल देखी

मणीन्द्र नाथ ठाकुर

बिहार-झारखण्ड के एक विद्यालय के पूर्ववर्ती छात्रों के एक संगठन ने यह तय किया है कि दिल्ली के केन्द्रीय विद्यालयों के साथ मिल कर कविताओं की अन्त्याक्षरी प्रतियोगिता आयोजित की जाएगी। इसमें कविताओं का बड़ा हिस्सा प्रस्तुत किया जाएगा। उस विद्यालय की यह पुरानी परम्परा रही है, जिसे याद कर वहाँ के पूर्ववर्ती छात्र रोमांचित हो जाते हैं और इसलिए उसे देश के और हिस्सों में ले जाना चाहते हैं। इसमें लगभग सत्तर दिन का कार्यक्रम होगा और हर दिन के कार्यक्रम को एक विशेष कवि को समर्पित किया जाएगा।



लेखक समाजशास्त्री और जे.एन.यू.
में प्राध्यापक हैं।
+919968406430
manindrat@gmail.com



हर साल अपनी कक्षा के नये छात्रों से पूछता हूँ कि उनमें से कितने लोग साहित्य पढ़ने में रुचि रखते हैं। मैं उन्हें साफ-साफ कहता हूँ कि यदि साहित्य में उनकी रुचि नहीं है तो बेहतर होगा कि समाज अध्ययन पढ़ना छोड़ कर वे कुछ और करें। अपने तीन दशक के अध्यापन के अनुभव से यह कह सकता हूँ कि साहित्य पढ़ने वाले छात्रों की संख्या में निरन्तर भारी कमी आयी है। ऐसे कुछ होते भी हैं तो उनमें अधिकतर अँग्रेजी माध्यम से पढ़ने वाले हैं। मैं विश्वास से कह सकता हूँ कि हिन्दी साहित्य पढ़ने वालों की संख्या पिछले तीन दशकों में निरन्तर घटती जा रही है। हमें इसके कारणों और परिणामों पर विचार करने की जरूरत तो है, बुद्धिजीवियों को इस संकट से निकलने का रास्ता भी खोजना होगा।

इसके पहले कि हम साहित्य में घटती रुचि के कारणों और परिणामों पर विचार करें पुस्तक के कारोबार को भी थोड़ा समझ लें। मेरे एक मित्र जो कवि और लेखक भी हैं और हिन्दी की पुस्तकों के प्रकाशक भी हैं उन्होंने अपना पूरा जीवन हिन्दी के लिए

समर्पित कर दिया। स्तरीय अन्तराष्ट्रीय साहित्य को हिन्दी पाठकों को उपलब्ध करवाना ही उनके जीवन का उद्देश्य है। वे अपनी सारी आमदनी को इसी काम में झोंक देते हैं। बताते हैं कि हिन्दी प्रकाशकों में साहित्य को लेकर कोई उत्साह नहीं है। ज्यादातर प्रकाशक पाठकों तक पुस्तकों को पहुँचाने की चिन्ता के बदले किसी तरह से सरकारी खरीदारी के जुगाड़ में रहते हैं। लेखक को कोई रॉयल्टी देने की परम्परा तो शायद ही है और लेखक को लोकप्रिय बनाने की चिन्ता या कोशिश भी नहीं है। राजा राम मोहन राय पुस्तकालय एक बड़ा खरीदार है ऐसी पुस्तकों का। बस प्रयास यह रहता है कि उनके चयनकर्ताओं के साथ जुगाड़ बिठा कर लाभ कमा लिया जाए और फिर अगली पुस्तक की चिन्ता की जाए। मेरे इस मित्र का यह भी मानना है कि साहित्य की दुर्गति के पीछे प्रकाशकों का जितना हाथ है, उससे कम पाठकों का नहीं है। पुस्तक खरीदने की क्षमता के बावजूद उनमें पुस्तकों के प्रति कोई रुचि नहीं है। इसमें कोई शक नहीं कि हिन्दी साहित्य जनता से कट कर

केवल विश्वविद्यालय के परिसरों में सीमित हो गया है। साहित्यकार भी पुरस्कार के चक्कर में रहने लगे हैं। फिर विश्वविद्यालयों में साहित्यकारों की अपनी-अपनी लॉबी है और साहित्य की रचनाशीलता उसमें खो जाती है। इसके साथ ही साहित्य समाज का दर्पण न होकर एक प्रोडक्ट हो जाता है।

साहित्य के माध्यम से समाज अपने सदस्यों को उन विचारों से अवगत करवाता है, जिससे समाज बनता है। मुझे याद है मुल्कराज आनन्द से मेरी छोटी सी मुलाकात। दिल्ली के हौजखास स्थित उनके आवास पर एक बार मैं अपने मित्र के साथ उनसे मिलने गया था। मैं तो उन्हें केवल साहित्यकार समझता था, लेकिन साहित्य उनका माध्यम था समाज से संवाद करने का। उन्होंने बताया कि एक बार वे गाँधी जी के पास गये और उनसे पूछा कि आपके आन्दोलन में मैं क्या सहयोग कर सकता हूँ, मैं तो लेखक हूँ लेकिन हिन्दी में लिख नहीं सकता हूँ। गाँधी ने उनसे कहा कि लेखकों का दायित्व है समाज में विचार की क्षमता को विकसित करना। आपके लेखों, उपन्यासों से समाज बदलेगा। आप को हिन्दी नहीं आती है तो अँग्रेजी में लिखें और फिर कभी उसका अन्य भाषाओं में अनुवाद भी हो जाएगा। लेकिन आपका लिखते रहना बेहद जरूरी है। राजनीतियों की बातें समाज में ऊपर-ऊपर ही रह जाती हैं। साहित्य लोगों के मन में गहरे उतर पाता है। मुल्कराज आनन्द ने उसके बाद कई उपन्यास लिखे जिसमें प्रसिद्ध उपन्यास 'कुली' भी शामिल है। गाँधी समझते थे कि साहित्य समाज की वैचारिकी को ठीक करने के लिए कितना महत्वपूर्ण है।

मुल्कराज आनन्द की एक और खास बात थी। पुस्तकों से हुई अपनी आमदनी से चार गाँवों के विकास के लिए काम करते थे। जिस दिन मेरी उनसे मुलाकात हुई वे महीने भर के लिए गाँव जा रहे थे। यह गाँव उनके अपने नहीं थे, उन्होंने गोद लिया था। गाँव का गोद लेना केवल राजनीतियों के लिए सुरक्षित नहीं है, बल्कि उनकी गोद में गाँव बेजान हो गये हैं। साहित्यकारों को भी गाँव गोद लेना चाहिए और गाँवों को भी साहित्यकारों को गोद लेने की परम्परा शुरू करनी चाहिए। हिन्दी नहीं लिख पाने को लेकर मुल्कराज

आनन्द बेहद दुखी थे। उन्होंने हिन्दी सीख कर उसमें भी लिखना शुरू किया। लेकिन उनका कहना था कि हिन्दी पाठक पुस्तकों खरीदते नहीं हैं। उन्हें उन पुस्तकों से कोई खास रॉयल्टी नहीं मिलती है और उन्हें उन गाँवों के लिए पैसे की जरूरत होती है। इसलिए उन्होंने हिन्दी में लिखना बन्द कर दिया। हिन्दी के ज्यादातर लेखक यही कहते हैं कि प्रकाशक उन्हें कोई रॉयल्टी नहीं देता है। प्रकाशक कहता है कि पुस्तकें बिकती नहीं हैं। समझ में नहीं आता है कि जिस देश में हिन्दी के अखबार अँग्रेजी अखबारों की तुलना में कई गुणा ज्यादा प्रकाशित होते हैं, हिन्दी सिनेमा जगत विशाल धन कमाता है, वहीं हिन्दी लेखक बदहाली में क्यों रहते हैं?

लेखकों की शक्ति का अन्दाजा आपको लग सकता है यदि आप उन्नीसवीं सदी के मध्य में हुए फ्रांस के प्रसिद्ध लेखक एमिल जोला को याद करें। उनके उपन्यास 'नाना' ने फ्रांस में तहलका मचा दिया। इसमें पेरिस की एक वेश्या के जीवन के माध्यम से शहरी जीवन की क्रूरता पर प्रकाश डाला गया है। लेकिन लेखक की शक्ति का परिचय यदि आपको चाहिए तो एक यहूदी सैनिक ऑफिसर ट्रेफ की कहानी को याद करना होगा, जिसे एक प्रपंच में फंसा कर सजा दे दी गयी थी। ऑफिसर की पत्नी ने जोला से अनुरोध किया कि अब केवल वही उसे न्याय दिला सकता है। जोला ने एक क्लब में फ्रांस के बुद्धिजीवियों को आमन्त्रित किया और अपना प्रसिद्ध आरोप पत्र 'मेरा अभियोग' पढ़ा। पेरिस में हंगामा हो गया। जोला पर सरकार के खिलाफ विद्रोह का मुकादमा चलाया गया। जोला को सजा हो गयी। मित्रों ने फ्रांस छोड़ने की सलाह दी। न चाहते हुए भी जोला लंदन चला गया और वहाँ से लगातार फ्रांस की सरकार के खड्गालाप लिखता रहा। दुनिया भर में फ्रांस की बदनामी होने लगी और न्यायालय ने मुकदमा फिर से खोला। न केवल जोला आरोप मुक्त हुए, बल्कि ऑफिसर भी आरोप मुक्त हो गये। जोला भारतीय साहित्यकारों का भी आदर्श होना चाहिए।

फ्रांस के ही एक दूसरे साहित्यकार मिशेल ओलबेक को लें। हाल ही में अपने उपन्यास 'सबिमसन' के लिए बेहद चर्चित रहे हैं। मेरे

खयाल से उनकी दो पुस्तकों को एक साथ पढ़ना चाहिए। अपनी पहली पुस्तक 'एटोमाइज्ड' में उन्होंने वर्तमान फ्रांसीसी समाज की कड़ी आलोचना की है। बताया है यह समाज इतना एकाकी हो गया है कि यहाँ लोगों के लिए पहचान का संकट पैदा हो गया है। काम वासना ही उनके लिए मनुष्य होने का मापदण्ड हो गया है। इसका मुख्य पात्र जिनोम वैज्ञानिक है और जीन एडिटिंग पर शोध करता है, जिससे मनुष्य के दैहिक संरचना में आमूल परिवर्तन की सम्भावना बन रही है। एक नये तरह के मनुष्य की रचना हो सकती है। इच्छा अनुसार बच्चों में गुणों को विकसित किया जा सकता है। मसलन आप तय कर सकते हैं कि आपका बच्चा लम्बा हो। अपने दूसरे उपन्यास में उन्होंने कल्पना की है कि 2029 में फ्रांस इस्लामिक राज्य घोषित हो जाता है। इस बात को लेकर ही काफी विवाद शुरू हो गया है। गौर करने की बात है कि इस पुस्तक के विमोचन के अगले दिन ही चार्ले हेब्डो नामक पत्रिका के दफ्तर पर आतंकवादी हमला हुआ था। लेकिन इस पुस्तक को यदि उनकी पहली पुस्तक के साथ पढ़ें तो आप समझ सकते हैं कि लेखक का उद्देश्य आधुनिकता के विकृत रूप की कटु आलोचना करना है। इसी सन्दर्भ में लेखक मानता है कि इस विकृति से ऊब कर लोग सम्भवतः धार्मिक काट्टरपन्थ को भी स्वीकार कर लें। यह एक तरह से समाज को आगाह करने का प्रयास भी है। यही साहित्य का काम है।

साहित्य के दायित्वबोध को भारत से ज्यादा कौन समझ सकता है। भारतीय स्वतन्त्रता संग्राम में साहित्य की भूमिका को कौन नकार सकता है। प्रेमचन्द, प्रसाद, निराला, टैगोर और न जाने कितने छोटे बड़े साहित्यकारों ने भारतीय राष्ट्रवाद की नींव रखी थी। पश्चिमी उग्र राष्ट्रवाद के विपरीत यहाँ एक समावेशी राष्ट्रवाद बना था। राष्ट्रीय मूल्य मानवीय मूल्यों का संयोग था। अन्तर्राष्ट्रवाद भी भारतीय राष्ट्रवाद का हिस्सा था। हिन्दी साहित्य ने जिन मूल्यों से भारतीय राष्ट्रवाद को सींचा था वे आज कहीं गायब हो गये हैं। इसलिए आज मूल्यहीन और उग्र राष्ट्रवाद हमारे समाज को खाता जा रहा है। ऐसे राष्ट्रवाद के लिए ही कहा गया है 'निज मन ही निज तन को खाए'। आज

हमारा समाज जो मूल्यहीनता झेल रहा है उसके पीछे एक कारण आम लोगों का घटना साहित्य प्रेम भी है। हर समाज अपने साहित्यकारों को सम्मान देता है। पश्चिम में आप पाएँगे कि हर छोटे बड़े साहित्यकार के घरों को, उनके पुस्तकालय को समाज ने सुरक्षित रखा है। लोग वहाँ जाते हैं और उनके मूल्यों को याद करते हैं। पर आप यदि आज के भारत में उन साहित्यकारों के गाँवों में जाएँ तो उनका नमोनिशान मिलना मुश्किल होगा।

साहित्य केवल मूल्यों के लिए ही नहीं सामाजिक विश्लेषण के लिए भी जरूरी है और इस मायने में आधुनिक समाजशास्त्र से ज्यादा धनी है। समाज को यदि आप समझना चाहते हैं तो आपको साहित्य का सहारा लेना ही होगा। खास कर यदि आप यह जानना चाहते हैं समाज किस दिशा में जा रहा है तो समाज अध्ययन से बेहतर समझ समय साहित्य से मिल सकता है। फ्रांस के लेखकों का जिक्र मैंने ऊपर किया है। भारत में यदि ग्रामीण समाज को समझना है तो प्रेमचन्द, फणीश्वर नाथ रेणु जैसे लेखकों की रचनाओं को पढ़े बिना आप कैसे समझ सकते हैं। यह बात खास कर हाशिये के समाज के लिए लागू होती है। तुलसी राम की आत्मकथा मुर्दाहिया से बेहतर शायद ही कोई समाजअध्ययन दलित समाज के बारे में हमें बता सकता है। यहाँ तक कि बहुत से दार्शनिक और समाजशास्त्री भी आखिर में साहित्य का सहारा लेते हैं। ओक्सफोर्ड विश्वविद्यालय में दर्शन की प्राध्यापिका रहीं आइरिस मर्डोक ने तो दर्शन की केवल एक या दो पुस्तकें लिखीं और तीस-पैंतीस उपन्यास लिखा। इटली के इतिहासकार एंबेर्तो ईको ने भी अपनी इतिहास की समझ को अन्ततः उपन्यासों के माध्यम से परोसना शुरू किया। समाजशास्त्र के पहले भी लोग समाज के बारे में विश्लेषण करते रहे हैं और उसकी विधा साहित्य की ही रही है। समाजशास्त्र की स्थिति के आकलन के लिए बनाये गये गुलबेंकियन कमीशन, जिसके सदस्य नोबेल पुरस्कार विजेता इलिया प्रोगोजिन और एमानुएल वालेंस्टिन भी थे, ने अपनी रिपोर्ट में तो यहाँ तक कह दिया है कि धार्मिक साहित्य को भी समाजशास्त्र का हिस्सा मानना चाहिए क्योंकि आधुनिक समाजशास्त्र के पहले

इन्हीं माध्यमों में समाज अपनी समझ को अभिव्यक्त करता था।

अब सवाल है कि साहित्य के प्रति हम नयी पीढ़ी में रुचि कैसे जगाएँ। इस सन्दर्भ में मैं एक पहल की चर्चा करना चाहता हूँ। अभी मुझे पता चला कि बिहार-झारखण्ड के एक विद्यालय के पूर्ववर्ती छात्रों के एक संगठन ने यह तय किया है कि दिल्ली के केन्द्रीय विद्यालयों के साथ मिल कर कविताओं की अन्त्याक्षरी प्रतियोगिता आयोजित की जाएगी। इसमें कविताओं का बड़ा हिस्सा प्रस्तुत किया जाएगा। उस विद्यालय की यह पुरानी परम्परा रही है, जिसे याद कर वहाँ के पूर्ववर्ती छात्र रोमांचित हो जाते हैं और इसलिए उसे देश के और हिस्सों में ले जाना चाहते हैं। इसमें लगभग सत्तर दिन का कार्यक्रम होगा और हर दिन एक विशेष कवि को समर्पित किया जाएगा, जिसके बारे में बच्चों को बताया जाएगा। उनके नाम पर उस विद्यालय में बच्चे एक पेड़ भी लगाएँगे। इस प्रतियोगिता को धीरे-धीरे पूरे देश के स्तर पर आयोजित करने की योजना है। यह बात मुझे बेहद अच्छी लगी। यदि हर गाँव भी अपने इलाके के कवियों को याद करे, उनकी कविताओं का पाठ करे, उनके नाम पर पेड़ लगाए तो शायद हमारा समाज उनके मूल्यों को भी समझ पाएगा।

क्या ऐसा ही कोई कार्यक्रम कहानियों और उपन्यासों के लिए भी सोचा जा सकता है? कविताएँ तो गेय भी होती हैं और उसमें रस ज्यादा होता है। लेकिन कहानियों और उपन्यासों को पढ़ने के लिए ज्यादा संयम की जरूरत होती है। समाज की पूर्णता में समझ उपन्यासों से ज्यादा हो सकती है। कुछ कार्यक्रमों में मैंने उपन्यासों के कुछ हिस्सों को पढ़े जाने का प्रयास देखा है। इससे उपन्यास में पाठकों की रुचि तो बनती है लेकिन कितने पाठक इसके बाद उपन्यास खरीद कर पढ़ते हैं कहना कठिन है। विद्यालयों, महाविद्यालयों, और विश्वविद्यालयों में उपन्यास को पढ़ने की परम्परा को डालने के किसी तकनीक का इजाजत आवश्यक है।

मेरे विचार से विज्ञान और समाज अध्ययन के विषयों के साथ भी साहित्य का कम-से-कम एक कोर्स तो जरूर होना चाहिए। युवा छात्रों के लिए अपने समाज और उसके मूल्यों के

बारे में जानकारी होना अत्यन्त ही आवश्यक है। और साहित्य इसका बेहतर तरीका हो सकता है। साहित्य के अध्ययन की कमी ने ही समाज में ऐसी स्थिति ला दी है कि हम मूल्यहीन होते जा रहे हैं। आए दिन सामूहिक हत्या, बलात्कार और आत्महत्याओं का सिलसिला आज चल रहा है उसके अनेक कारण हो सकते हैं लेकिन साहित्य से समाज का दूर जाना भी निश्चित रूप से उनमें से एक है। इसका दूरगामी प्रभाव राजनीति पर पड़ना लाजिमी है। आज राजनैतिक बहस का माध्यम मीडिया है जिसमें बहस का केवल विकृत रूप ही होता है। साहित्य में इस बहस का रूप ज्यादा गम्भीर भी होता है और उसका प्रभाव दूरगामी भी होता है।

लेकिन साहित्य को समाज में सही स्थान मिले इसके लिए प्रबुद्ध वर्गों को भी कोई पहल करनी होगी। एक समय था जब साहित्यकार सीधे प्रधानमंत्री से बातें करते थे। मुझे याद है मुल्कराज आनन्द से बातें करते हुए मैं अचम्भित था क्योंकि जब-जब वे कहते थे कि 'मैंने नेहरू से कहा था कि आप ऐसा नहीं कर सकते हो' मुझे लगता था क्या यह सम्भव होता होगा। बाद में मैंने आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी और निराला से नेहरू जी के पत्राचारों को पढ़ा तो विश्वास हुआ। द्विवेदी जी ने एक बार उन्हें लिखा था कि जो पैसे उन्हें शान्ति निकेतन में मिलते थे यथेष्ट नहीं थे, कागज तक नहीं खरीद सकते थे, पैसे बचाने के लिए उन्होंने सुबह की चाय छोड़ दी थी। नेहरू जी का जवाब था कि इसका जरूर कुछ इन्तजाम करेंगे। इसी तरह नेहरू जी ने निराला के लिए कुछ मासिक वजीफा का इन्तजाम किया था। लेकिन महीने के शुरू में ही पैसे खत्म हो जाते थे। नेहरू जी के अनुरोध पर महादेवी वर्मा ने निराला के पैसे अपने पास रखना शुरू किया। लेकिन निराला थे अपना तो पैसा खत्म हो ही जाता था, किसी की दवा के लिए, किसी के भोजन के लिए महादेवी के हिस्से का पैसा भी माँग लाते थे। महादेवी जी ने नेहरू जी को लिखा कि अब इस जिम्मेदारी का निर्वाह करना सम्भव नहीं लग रहा है। इस तरह का वार्तालाप अब सपना सा लगता है।

□

घटता जल, घटता जीवन

देशकाल

राहुल सिंह

जो इलाका शहरीकरण की जद में आ गया उसकी जमीन की कीमतें बेतहाशा बढ़ती चली गयीं। जब रिहाइशी जमीन की कमी हुई तो उसकी जद में कृषियोग्य जमीनें आयी फिर हर शहर में ग्रीन लैण्ड जैसी जमीन आयी, जिसमें खेती बारी छोड़ कर कुछ नहीं किया जा सकता था। नियमों को ताक पर रख कर बड़े पैमाने पर ऐसी जमीन की प्रकृति बदल कर निबन्धन का काम जोरों पर चला। यह ग्रीन लैण्ड एक तरीके से बारिश के पानी का सबसे बड़ा संग्रहण क्षेत्र हुआ करता था, जिसे हमने खत्म किया।



लेखक हिन्दी के युवा आलोचक हैं।
+919308990184
alochakrahul@gmail.com



धरती का बढ़ता तापमान जिस ढंग से हमारी चिन्ता का विषय होना चाहिए, उस ढंग से होना तो दूर उसका हम संज्ञान तक लेने को तैयार नहीं दिख रहे हैं। बिना किसी तकनीकी ज्ञान और विशेषज्ञता के आम शब्दों में इसे ऐसे समझें कि पर्यावरण को नुकसान दो तरीकों से पहुँचाया जा रहा है। एक व्यापक पैमाने पर और दूसरा खुदरा स्तर पर। व्यापक पैमाने वाले नुकसान में सरकार और कारपोरेट की संगठित भागीदारी है, जिसके मूल में अकूत मुनाफा है। वैश्विक स्तर पर इसे समझना हो तो अमेजन के वर्षा वनों की कटाई के ताजा उदाहरण से इसे समझा जा सकता है और देश के धरातल पर इसे समझना हो तो छत्तीसगढ़ के जंगलों की कटाई का जो ठेका अडाणी ने खनन के पूर्व लिया है, उसके आलोक में इसे समझा जा सकता है। साथ ही इस बात को रेखांकित करना जरूरी है कि सरकार काँग्रेस की हो या भाजपा की कारपोरेट हित के आगे सब बौने हैं। प्राकृतिक और मानव संसाधनों के दोहन से जो धन उगाही की कारपोरेट की लिप्सा है, उसके आगे आम आदमी की कोई बिसात नहीं रह गयी है। यह हमारे दौर का एक नंगा और कड़वा

सच है। जाहिर है सरकार की प्राथमिकता सूची में आम आदमी नहीं है। फौरी तौर पर इसे समझना हो तो बिहार के मुजफ्फरपुर के इलाके में 'चमकी बुखार' से होने वाले बच्चों की मौत पर राज्य सरकार और केन्द्र सरकार दोनों के रवैये को देखकर उनकी गम्भीरता या प्राथमिकता का आकलन किया जा सकता है। कारपोरेट हित के आगे सरकारें लोक कल्याणकारी राज्य की अपनी भूमिका से हाथ खींचना तो काफी पहले शुरू कर चुकी थीं, पर अब मामला इसलिए ज्यादा गम्भीर है कि वइ इसे जरूरी सवाल के बतौर भी सार्वजनिक बहसों और चिन्ताओं से बाहर करने में कामयाब हो गयी है। अब लोकहित और लोकनिर्माण के नाम पर सरकारें ऐसी छूटें हासिल कर रही हैं जिस पर आपत्ति दर्ज करने का आन्दोलन के अलावा कोई दूसरा रास्ता नहीं रह गया है। और आन्दोलनों को कुचलना किसी भी पहले के दौर की तुलना में आज ज्यादा सहज है।

पिछले पन्द्रह बीस सालों में एक परिघटना जो एक ही ढंग से पूरे देश में घटी है वह है तेजी से होता शहरीकरण। शहरीकरण की इस गतिविधि को समझने की जरूरत है, जिसने



खुदरा स्तर पर पर्यावरण की सेहत को बिगाड़ने में घनघोर भूमिका अदा की है। पहला काम तो यह हुआ कि शहरीकरण ने आबादी को एक खास इलाके में संधनित होने में प्रेरक का काम किया। जो इलाका शहरीकरण की जद में आ गया उसके जमीन की कीमतें बेतहाशा बढ़ती चली गयीं। जब रिहाइशी जमीन की कमी हुई तो उसकी जद में कृषियोग्य जमीन आयी फिर

हिस्सा नहीं बन सका। सड़कों के चौड़ीकरण के बाद भी जाम से मुक्ति नहीं है। अब तो सौन्दर्यीकरण एक नया चोंचला बीते पाँचेक साल में चलन में आया है। इससे हुआ यह है कि सड़कों के किनारे जो कच्ची सड़क जैसी चीज हुआ करती थी, उसे पेक्स निगल गये हैं। राँची जैसे शहर में तो सड़क के दोनों ओर एक इंच जमीन देख पाना मुश्किल है। सबको इस

अब तो सौन्दर्यीकरण एक नया चोंचला बीते पाँचेक साल में चलन में आया है। इससे हुआ यह है कि सड़कों के किनारे जो कच्ची सड़क जैसी चीज हुआ करती थी, उसे पेक्स निगल गये हैं। राँची जैसे शहर में तो सड़क के दोनों ओर एक इंच जमीन देख पाना मुश्किल है। सबको इस कदर ढाल दिया गया है कि बारिश के जल से जमीन का सम्पर्क होना मुश्किल हो गया है।

हर शहर में ग्रीन लैण्ड जैसी जमीनें आयी, जिसमें खेती बारी छोड़ कर कुछ नहीं किया जा सकता था। नियमों को ताक पर रख कर बड़े पैमाने पर ऐसी जमीन की प्रकृति बदल कर निबन्धन का काम जोरों पर चला। यह ग्रीन लैण्ड एक तरीके से बारिश के पानी का सबसे बड़ा संग्रहण क्षेत्र हुआ करता था, जिसे हमने खत्म किया। एक शहर जो शहर के तौर पर विकसित नहीं हुआ था अचानक शहरीकरण की जद में आने से बढ़ती आबादी की वजह से हलकान होने लगा। ट्रैफिक की समस्या से निजात के लिए फौरी तौर पर सड़कों का चौड़ीकरण किया गया। इससे हुआ सिर्फ इतना कि सड़कों के किनारे लगे पचास से सौ साल पुराने पेड़ देखते देखते काट डाले गये। यह जो पेड़ों की खुदरा हत्या हुई, यह हमारी बहस का

कदर ढाल दिया गया है कि बारिश के जल से जमीन का सम्पर्क होना मुश्किल हो गया है उसकी एक ही गति है कि नाली के रास्ते वह नाला या नदी तक शीघ्रतिशीघ्र पहुँच जाए। वैसे जानकारी के लिए बताता चलूँ कि इस साल तकरीबन पन्द्रह से बीस हजार बोरिंग अकेले राँची में पानी देने में विफल साबित हुए हैं।

शहरीकरण ने एक और काम किया आबादी के एक खास दायरे में सीमित होने के कारण जमीन की उपलब्धता कम होती चली गयी तो पोखर और तालाब तक को पाट दिया गया। अपार्टमेंट कल्चर ने मुहल्लों का सिर्फ हुलिया ही नहीं बिगाड़ा। सबसे पहले वे कुँओं को बंजर कर गये। डीप बोरिंग ने कुँओं को अप्रासंगिक कर दिया। गर्मियों में जब पानी का

स्तर नीचे चला जाता था तब कुँओं में ईट और पत्थर के बीच छूट गयी जगहों में गौरैया अपना घोंसला बनाती थी, क्योंकि वहाँ ठण्डक होती थी। सदियों में वे इसी ढंग से अपनी आबादी बनाए हुए थीं। अब गौरैया का वह प्राकृतिक आवास हमने छीन लिया है। कबूतर और मैना तो अपार्टमेंट के वेंटीलेशन और पाईप में शिफ्ट कर गये हैं लेकिन गौरैया मारी-मारी फिर रही है।

अपार्टमेंट से निकलने वाले गन्दे पानी को नाले के जरिये किसी तरह शहर की नदियों तक की राह दिखा दी गयी। इससे नदियाँ भी नालों में तब्दील होकर आखिरी साँसे गिनने लगीं। एक बहुत बड़ी आबादी उन नदियों में पाई जाने वाली गेठू, पोठी, चिंगडी, गरई, माँगुर जैसी छोटी मछलियों से अपने दोपहर का पोषण प्राप्त करती थीं, अब वह बीते जमाने की बात है। इन नदियों का पानी अब नहाने लायक भी नहीं रह गया है। बहते प्लास्टिक और कूड़ों के अम्बार ने उनको एक दुर्गन्धयुक्त नाले में तब्दील कर दिया है। हाँ यह जरूर है कि नदियों के किनारे खेत में सिंचाई के लिए अब भी वे इसी पानी का इस्तेमाल कर रहे हैं। मजे की बात यह है कि इस प्रदूषित पानी से सिंचित सब्जियाँ सामान्य सब्जियों की तरह ही दिखती हैं। हमने अभी तक वह पद्धति विकसित नहीं की है जिससे एक आदमी सहजता से इन सब्जियों को सामान्य सब्जियों से अलग सके। कीटनाशक युक्त और प्रदूषित जल से सिंचित सब्जियों के दैनिक उपयोग से कैंसर के बढ़ते मामलों का एक अदृश्य सम्बन्ध है।

यह सब कुछ हम सब की आँख के सामने रोज घटित होता रहा। लेकिन चलता है, वाले अन्दाज में हम मूकदर्शक बने रहे। मौसम के इस बदले मिजाज से खेती-किसानी बहुत चुनौतीपूर्ण हो गयी है, छोटे किसान हाथ खींच रहे हैं। इस साल मटर और पालक की फसल इस ओर मारी गयी। खेती की दुश्वारियाँ तो खैर और भी हैं। अब आलम यह है कि इस साल तापमान में हुए इजाफे ने पहली बार चिन्ता की रेखाएँ खींच दी हैं। चेतने का समय है। ना चेतें तो धीरे-धीरे हम भी डायनासोर हो जाएँगे। और कुछ तो हमारे बस का नहीं है पर बारिश का मौसम सामने है। इतना करें कि बारिश में अपने आस-पास, घरों में जहाँ भी खाली जगह है, वहाँ एक-दो पेड़ लगाएँ। □

सावधान, यहाँ नुक्कड़ नाटक करना मना है

तीसरी घण्टी

राजेश कुमार

नाटक के महंगे प्रेक्षागृहों में मंचित होने पर उसका खर्चीला व महंगा होना स्वाभाविक था जिससे एक खास सुविधाभोगी लोगों के लिए ही वहाँ जाना सम्भव था। आम जनता के लिए सिनेमा हॉल तक पहुँचना आसान था, बनिस्पत महंगे दाम में टिकट लेकर पॉश इलाकों में बड़ी-बड़ी ऊँची इमारतों में स्थित प्रेक्षागृहों में नाटक देखना और वैसे नाटक जो उनकी समझ के परे हो, उनके जीवन से अलग-थलग का हो, उनके वर्ग के बिलकुल बाहर का हो।



लेखक धारा के विरुद्ध चलकर भारतीय रंगमंच को संघर्ष के मोर्चे पर लाने वाले अभिनेता, निर्देशक और नाटककार जो हाशिये के लोगों के पुरजोर समर्थक हैं।

+919453737307

rajeshkr1101@gmail.com



आज भी रंगकर्म दो धाराओं, दो मूलभूत विचारधाराओं में विभक्त है। एक धारा के रंगकर्मी तो वे हैं जिनके लिए रंगकर्म का अर्थ है केवल नाटक करना। उनका नाटक, नाटक की कला का आम जीवन से कोई सम्बन्ध नहीं। वे देश की स्थितियों, घटनाओं या हो रहे बदलावों से अपने को सर्वथा पृथक रखना ही बेहतर समझते हैं। उनकी कला मात्र कला के लिए होती है। दूसरी तरफ रंगकर्मियों की वह जमात है जो रंगकर्म को एक माध्यम बनाते हैं अपनी बात, जनता की बात, जनता के बीच ले जाने का। वे नाटकों द्वारा आम जनता को सामयिक स्थिति से रू-ब-रू करना कराना चाहते हैं। उनके अन्दर फैले अन्धविश्वास, आडम्बर, पुरानी सड़ी-गली कुरीतियों-मान्यताओं को खत्म कर एक नयी सोच, एक नया चिन्तन, एक नयी संस्कृति पैदा करना चाहते हैं।

आज नुक्कड़ नाटक इसी दूसरी धारा के साथ है। इसकी भी जड़ लोक नाटक की तरह आम जनता में है। नाटक का यह रूप न किसी नाट्यशास्त्री के घर में बैठकर की गयी कल्पना है, न प्रयोग के रूप में की गयी कोई शुरुआत। इसका जन्म जनसंघर्षों के बीच से हुआ है।

यहीं फला-फूला, विकसित हुआ है और आज एक राष्ट्रीय जन नाट्य आन्दोलन की शक्ति अखिलियार करता जा रहा है।

छठे दशक का उत्तरार्द्ध और सातवें दशक का पूर्वार्द्ध भारतीय रंगमंच के लिए एक महत्वपूर्ण दशक रहा। आम जनता के अन्दर वर्तमान व्यवस्था को लेकर जो असन्तोष व बेचैनी व्याप्त थी, वह फूट-फूटकर बाहर आयी। देश भर में मजदूरों-किसानों-छात्रों द्वारा प्रदर्शन, जुलूस, हड़ताल, आन्दोलन हुए। 1967 में कई सूबों में काँग्रेस की हार और 1975 में थोपे गये आपातकाल के विरोध में राष्ट्रव्यापी आन्दोलन का सीधा असर साहित्य, दर्शन और राजनीति पर पड़ा। भारतीय रंगमंच पर विशेषकर कलकत्ता, बम्बई और दिल्ली मुख्य रूप से रंगमंचीय गतिविधि के केन्द्र थे। यहाँ का रंगमंच पूर्णरूपेण पश्चिम का रंगमंच था। नाटक को यथार्थवादी रूप देने के लिए तरह-तरह के ताम-झाम वाले साज-सज्जा, महंगे सेट, कृत्रिम प्रकाश का खुलकर प्रयोग किया जाता था। फलतः ये नाटक इस तरह दर्शकों के सम्मुख उपस्थित किये जाते कि देखने वालों के सामने सेट, प्रकाश, तकनीक

ज़्यादा प्रभावित हो उठता। कथ्य गौण पड़ जाता, विलीन हो जाता उन ताम-झाम में। नाटक के महंगे प्रेक्षार्थों में मंचित होने पर उसका खर्चीला व महंगा होना स्वाभाविक था जिससे एक खास सुविधा भोगी लोगों के लिए ही वहाँ जाना सम्भव था। आम जनता के लिए सिनेमा हॉल तक पहुँचना आसान था, बनिस्पत महंगे दाम में टिकट लेकर पॉश इलाकों में बड़ी-बड़ी ऊँची इमारतों में स्थित प्रेक्षार्थों में नाटक देखना और वैसा नाटक जो उनकी समझ के परे हो, उनके जीवन से अलग-थलग का हो, उनके वर्ग के बिलकुल बाहर का हो। एक तरफ़ तो प्रेक्षार्थों में होने वाले नाटकों की यह स्थिति थी, दूसरी तरफ़ लोक नाटकों के गिरते स्तर की तो कोई सीमा ही नहीं थी। लोक नाटकों के नाम पर था फूहड़ अश्लील गीतों का बोलबाला, द्विअर्थी संवादों का हंगामा तथा सामन्ती संस्कृति का विकृत रूप। इस स्थिति में जनवादी चिन्तन के रंगकर्मियों ने नाटक के ऐसे रूप की तलाश की जो विचार ओर प्रस्तुति दोनों स्तरों पर जनमानस के करीब था। उन्होंने नाटक को प्रेक्षार्थों से निकालकर बाहर नुक्कड़, चौराहा, मैदान, पार्क, स्कूल, ऑफिस के दफ्तरों में पहुँचाया। नाटक का यही रूप नुक्कड़ नाटक कहलाया, 'चौराहा नाटक' व 'स्ट्रीट कार्नर प्ले' के नाम से विभूषित हुआ।

नुक्कड़ों पर नाटक करना शुरुआती दौर में कुछ रंगकर्मियों के लिए एक प्रयोग भर था लेकिन इस तरह के चिन्तन वाले ज़्यादा दिनों तक टिक नहीं पाये। नुक्कड़ नाटक जनता का नाटक होता है इसका एक ही मकसद है नाटक का जनता से साक्षात्कार कराना। आज देश में इस उद्देश्य से कार्य करने वाली अनेकों संस्थाएँ सक्रिय हैं, ये केवल नाटक करने के लिए नाटक नहीं करती हैं, नाटक द्वारा जनता को जागरूक बनाने, अपसंस्कृति के खिलाफ़ लड़ाई लड़ने, जन संस्कृति का माहौल बनाने के साथ वे एक ऐसी व्यवस्था लाने की दिशा में प्रयत्नशील हैं जो जनता के दुःख-दर्द को महसूसने वाली हो, असमानता को खत्म करने वाली हो, बेरोज़गारी, महंगाई, भेदभाव, छुआछूत, आदमी-आदमी में भेद, अमीर-ग़रीब की दीवार को ढाह देने वाली हो। इस कारण आज का नुक्कड़ नाटक वर्तमान व्यवस्था के बिलकुल

खिलाफ़ जाता है। वर्तमान व्यवस्था का वास्तविक रूप आज किसी से छुपा नहीं है। सब जानते हैं कि यह व्यवस्था लोकतन्त्र का मुखौटा पहने एक तरफ़ तो अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता का पूरे विश्व में ढोल पीटती है, वहीं दूसरी तरफ़ दिन-दहाड़े एक नुक्कड़ नाट्य रंगकर्मी की हत्या करती है। सत्ताधारी वर्ग अपनी कुर्सी बचाने के लिए देशवासियों के बीच कभी भाषा का सवाल खड़ा करता है तो कभी प्रान्तीयता अथवा धार्मिक उन्माद का। यह जनता के मस्तिष्क को कुन्द करने के लिए, संघर्ष की दिशा से ध्यान मोड़ने के लिए हर प्रयास करने को तैयार है। भला इस प्रयास को कोई नाकाम करे, बेनकाब करे ये कैसे गवारा हो प्रशासन को। वह तो हर उन माध्यमों को तोड़कर खत्म कर देना चाहता है जो आम जनता तक सहज रूप से पहुँच रहे हैं। वर्तमान व्यवस्था पुस्तकों की कीमत बढ़ाकर अच्छे साहित्य को आम पाठक तक नहीं पहुँचने दे रही है। नाटक को एक बन्द कमरे में कैदकर आम दर्शकों को वहाँ पहुँचने से रोक रही है, और जो पहुँचने का प्रयास कर रहा है वह इस प्रशासन के आँख की किरकिरी बन रहा है। दरअसल नुक्कड़ अपने आप में एक क्रान्तिकारी स्थल है। कमरे में बैठकर राजनीति करने व साहित्य संगोष्ठियों से कोई ज़्यादा असर नहीं होने वाला। साफ़ और असरदार कहने के लिए आज जागरूक लोगों को नुक्कड़ पर आना ही होगा। यह स्थल राजनीति और नाटक से जुड़े दोनों के लिए खुद को डिक्लास करने का सबसे पहला क़दम है। यहाँ से हम सीधा संवाद करते हैं लोगों से। यहाँ जनता की अभूतपूर्व हिस्सेदारी होती है। यहाँ जनता न केवल नाटक देखती है बल्कि नाटक के बाद हमारे साथ चलती है क्योंकि यहाँ होती है एक दिशा, एक रास्ता...

पिछले दिनों देखा गया है कि नुक्कड़ नाटक रंगकर्मियों पर हर तरफ़ से हमले हुए हैं। गाँव में सामन्तों, शहरों में गुण्डों व पुलिस द्वारा हमले की अनेको घटनाएँ प्रकाश में आयी हैं। कुछ वर्ष पूर्व उत्तर प्रदेश के बस्ती ज़िला में पुलिस वालों ने एक नाटक मण्डली, जो वहाँ नुक्कड़ नाटक करने गयी थी, के साथ दुर्व्यवहार किया। जब लोगों ने एकजुट होकर इसका प्रतिरोध किया तो उन्हें सबक सिखाने के लिए पुलिस ने थाने में एक महिला रंगकर्मी

से साथ बलात्कार किया।

मई 1981 में राष्ट्रीय जनवादी सांस्कृतिक मोर्चा बनारस, गोरखपुर और दिल्ली के कुछ संस्कृतिकर्मियों ने 1857 के स्वतन्त्रता संग्राम की 125 वीं वर्षगांठ पर शहीदे आजम भगतसिंह, राजगुरु और सुखदेव की शहादत के 50 वर्ष पूरे होने के उपलक्ष्य पर उत्तर प्रदेश के गाज़ीपुर में नाटक करने का कार्यक्रम आयोजित किया था। नाटक भगतसिंह और उनके द्वारा लड़ी गयी लड़ाई पर आधारित था वे इस नाटक को गाँव-गाँव में मंचित करके भगतसिंह के क्रान्तिकारी विचारों से लोगों को वाकिफ़ कराना चाहते थे, लेकिन वहाँ की पुलिस को यह नाटक अतिवादी लगा। जबरन उस पर प्रतिबन्ध लगा दिया और फ़ौरन उन्हें ज़िला छोड़ने को मजबूर किया।

इस सम्बन्ध में पुलिस दमन की एक और मिसाल देखने को मिली। लखनऊ जन संस्कृति मंच की इकाई 'नवचेतना' ने भगतसिंह बलिदान समारोह के अन्तर्गत एक सप्ताह का आयोजन किया था। वे गुरुशरण सिंह का नाटक 'इंक्लाब-ज़िन्दाबाद' लखनऊ के नुक्कड़ों पर मंचित कर रहे थे। 11 मार्च को जब वे सदर रेलवे क्रॉसिंग पर नाटक कर रहे थे तो पुलिस ने रोक। दर्शक गोलबन्द हो गये तब जाकर नाटक पूरा करने दिया। बाद में जब विश्वविद्यालय के मिल्क बार के सामने नाटक प्रस्तुत करने को हुए तो विश्वविद्यालय के प्रोक्टर व तैनात पुलिस अधिकारियों ने नाटक करने से मना कर दिया, वहाँ से हटकर जब तीन नम्बर गेट पर करना चाहा तो वहाँ भी पुलिस आ गयी, रंगकर्मियों को गिरफ़्तार कर थाने में ले गयी। इसी तरह धनबाद में भी एक घटना घटी। वहाँ भगतसिंह की भूमिका कर रहे कलाकार ए.एन. झा को हिरासत में ले लिया गया और उन पर भी वही ऐक्ट लगाये गये जो कभी भगतसिंह पर लगाये गये थे।

मई 1980 में कालीकट के 'वर्गीस मेमोरियल बुक स्टॉल' के वार्षिक उत्सव पर पीपुल्स कल्चरल फ़ोरम की नाट्य टीम 'नट्य गीतिका' जब हज़ारों दर्शकों के बीच 'स्पार्टकस' नाटक खेलने जा रही थी तो करीब 200 हथियारबन्द पुलिस कर्मियों ने मंच पर हमला बोल दिया। 23 सदस्यों को गिरफ़्तार कर जेल में दूस दिया गया। बाद में कलाकारों ने जेल में ही कैदियों के बीच नाटक पूरा किया।

बिहार की चर्चित नुक्कड़ नाट्य संस्था 'युवानीति' शहर के अलावा गाँवों-कस्बों में जाकर नाटक करने के लिये काफ़ी मशहूर है। ये अक्सर गाँव में जाकर भूमि समस्या, हरिजन दहन, निम्नतम मजदूरी, साम्प्रदायिकता जैसे विषयों पर नाटक करते हैं। 1984 में भोजपुर के सहार थाने में बस से उतरते ही कलाकारों को गिरफ़्तार कर लिया गया। कई बार इन पर सामन्तों-गुण्डों द्वारा हमला होते-होते बचा है। कानूनी तौर पर भी इनके कलाकारों को काफ़ी परेशान किया गया। टीम के कलाकार नवेंदु, श्रीकांत और सिरिल मैथ्यू पर पुलिस ने धारा 107 के तहत केस भी किया और आरोप लगाया कि ये गीत-नाटक के माध्यम से समाज की मर्यादा और शान्ति को भंग करने पर उतारू हैं, इनकी गतिविधियों से समाज की शान्ति और अमन-चैन को ख़तरा है।

इसके अलावा पंजाब के मशहूर नाटककार श्री गुरुशरण सिंह समेत उनकी टीम को बम्बई में गिरफ़्तार किया गया। मध्य प्रदेश में हरिशंकर परसाई की कहानी का नाट्य रूपान्तरण 'इन्स्पैक्टर मातादीन चांद पर' का जब मंचन चल रहा था तब इन्स्पैक्टर का अभिनय कर रहे कलाकार को गिरफ़्तार कर लिया गया। 'दास्ताने गैस काण्ड' का प्रदर्शन दिल्ली पालिका बाज़ार के पास रोक दिया गया। गंगा नगर में चेख़व की कहानी 'गिरगिट' पर प्रतिबन्ध लगा दिया गया। दिसम्बर 1985 में रोहतास ज़िले के सकला बाज़ार के 'नव जागरण' टीम के कलाकार डा. विंध्येश्वरी को जिन्होंने मुख्य रूप से रंगकर्म के लिए गाँवों को ही आधार बनाया था, पुलिस द्वारा कुख्यात नक्सलपन्थी करार दिया गया। सप्ताह भर विभिन्न थानों में घुमाया गया और पीटा गया। उन पर अनेकों धारा लगाकर देशद्रोही करार दिया गया।

ऐसे दर्जनों उदाहरण हैं जिन्हें अगर दर्ज किया जाए तो एक लम्बी सूची बन जाएगी। ये तमाम उदाहरण-घटनाएँ सरकारी तन्त्र की दोमुँही नीतियों का मख़ौल उड़ाती हैं। यह जानकर आश्चर्य होता है कि आज भी हमारे देश में नाटक सम्बन्धी 113 साल पुराना कानून चला आ रहा है। नाटक पर अंकुश लगाने के लिए भारत में पहली बार सन् 1876 में ब्रिटिश साम्राज्यवादियों द्वारा एक कानून बनाया गया था जिसका नाम था, ड्रॉमेटिक परफ़ॉर्मेन्सेज़ एक्ट'। यह कानून ब्रिटिश सरकार ने बंगाल

में होने वाले नाटक 'नील दर्पण' को देखकर बनाया था। यह नाटक राष्ट्रीय भावना से ओत प्रोत था और जन मानस के अन्दर एक चेतना, संघर्ष की प्रेरणा भरने वाला था। अँग्रेजों को लगा, नाटक की यह धारा उनके लिए ख़तरनाक साबित हो सकती है, इस पर नियन्त्रण रखना ज़रूरी है। इसी उद्देश्य से उन्होंने नया कानून बनाना आवश्यक समझा। यह कानून जिसे ब्रिटिश सरकार ने रंगमंच के माध्यम से अपने ख़िलाफ़ भावनाओं की अभिव्यक्ति को दबाने के लिए बनाया था, आज भी उसी रूप में लागू है। इस कानून के तहत सरकार के विरुद्ध भावनाएँ उभारना अपराध है। ऐसा करने पर कसूरवार को तीन महीने की सज़ा या जुर्माना या दोनो हो सकते हैं। तथा इस कानून के तहत सरकार के ख़िलाफ़ असन्तोष फैलाने के अलावा किसी को आघात पहुँचाने वाले, बदनाम करने वाले, अश्लील तथा दर्शकों के चरित्र को भ्रष्ट करने वाले नाटक नहीं किये जा सकते। अगर प्रशासक समझता है कि ऐसा हुआ है तो वह वारन्ट जारी करवा सकता है। इस कानून के अन्तर्गत पुलिस किसी भी समय नाट्य प्रदर्शन रोक सकती है, सामान ज़ब्त कर सकती है, रंगकर्मियों और दर्शकों को गिरफ़्तार कर सकती है। इससे बचने के लिए नाटक की प्रति पहले उपयुक्त सरकारी अधिकारी को दिखाना ज़रूरी है अगर वह चाहे तो उसके किसी अंश को या सम्पूर्ण नाटक को दिखाने की अनुमति देने से इन्कार कर सकता है। उसके आदेश को अदालत में ही चुनौती दी जा सकती है। इसकी और कोई सुनवाई नहीं है। इस प्रकार किसी ख़ास मौक़े पर किसी नाट्य प्रदर्शन को होने से रोका जा सकता है।

सितम्बर 1981 में भी एक ऐसा ही ऐक्ट लाया गया था, 'रेग्युलेशन्स फ़ॉर लाइसेंसिंग ऐन्ड कन्ट्रोलिंग परफ़ॉर्मेन्सेज़ ऑफ़ पब्लिक एम्युजमेन्ट्स'। यह ऐक्ट भी ड्रॉमेटिक परफ़ॉर्मेन्स ऐक्ट की तरह ही नाटक पर अंकुश रखता है।

गौरतलब बात यह है कि स्वतन्त्र भारत में अँग्रेजों द्वारा बनाये गये कानून के प्रतिबन्ध का पहला शिकार प्रेमचन्द की कहानी 'ईदगाह' हुई थी। 1953 में लखनऊ के रफ़ह-ए-आम क्लब में जब इस नाटक का प्रदर्शन चल रहा था तो इस कानून के तहत रोक दिया गया था जबकि उसकी अनुमति पहले ज़िला मजिस्ट्रेट दे चुके थे। इस नाटक से अमृतलाल नागर

तथा सज्जाद ज़हीर जैसी हस्तियाँ जुड़ी थीं। इस नाटक के बारे में कहा गया कि प्रेमचन्द की कहानी में संशोधन करके इसके द्वारा कम्युनिस्ट विचारधारा का प्रचार किया जा रहा है। लेकिन न्यायालय की लखनऊ पीठ ने निर्णय दिया कि सत्ताधारी पार्टी की विचारधारा के विरुद्ध प्रचार करना लोगों के विचारों को भ्रष्ट करना नहीं कहा जा सकता है। न्यायालय ने इस कानून को अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता पर अंकुश माना और इसे असंवैधानिक कहा। बाद में पंजाब में भी कम्युनिस्ट पार्टी को नाटक करने से इसी आधार पर रोका गया था।

इस तरह हम देखते हैं कि सरकारी तन्त्र हर तरफ़ से नुक्कड़ नाट्य आन्दोलन को कुचल देना चाहता है लेकिन हकीकत ये है कि प्रशासन के द्वारा जितने नये-नये कानून बनाये जा रहे हैं, कलाकारों पर हमले किये जा रहे हैं, उतना ही अधिक ये आन्दोलन जोर पकड़ता जा रहा है। नुक्कड़ नाटक महज़ नाटक नहीं है। एक विचारधारा है, दर्शन है, और इसे आसानी से ख़त्म नहीं किया जा सकता है। सफ़दर हाशमी के हत्यारों ने सोचा होगा कि इस हत्या के बाद रंगकर्मियों के बीच दहशत समा जाएगी, वे डगमगा जाएँगे, डर कर नुक्कड़ों पर आना बन्द कर देंगे, लेकिन ऐसा नहीं है। सफ़दर की मौत ने इस नाट्य आन्दोलन में एक नयी जान फूँक दी है। अब यह आन्दोलन जंगल की आग की तरह फैल रहा है। गाँवों में तेज़ी से नाट्य संस्थाएँ गठित हो रही हैं, एक से एक नये नुक्कड़ नाटक लिखे जा रहे हैं। ख़ूब मंचित हो रहे हैं धीरे-धीरे माहौल में एक बदलाव भी आ रहा है। लोग इन नाटकों का अर्थ समझने लगे हैं। इसे अपना समझने लगे हैं। तभी तो पिछले दिनों ऐसी अनेक घटनाएँ घटीं जब पुलिस-सामन्त-गुण्डों ने नाटक को बन्द कराना चाहा, हमला किया तो जनता ने एक होकर उनका सामना किया। अब जनता इस नाट्य आन्दोलन से अनजान नहीं रही। जब भी उनका कोई संघर्ष होता है वे ऐसी नाट्य टीम को बुलाते हैं, अपने बीच उनका मंचन कराते हैं और उनका नाटक चारों तरफ़ बैठकर ऐसा देखते हैं मानों वे उनके कवच हों और नुक्कड़ नाट्य रंगकर्मियों पर आने वाले हर ख़तरों से उन्हें बचाने को तैयार हों।

□

नाम की उलझन

हैं और ना के बीच

रश्मि रावत

उसने मुझे बड़ा हैरान और परेशान किया। कहा “दीदी आपको एक बात बताऊँ। पर आप किसी को भी बताना मत। मुझे लगता है आपको बताया जा सकता है। उसने कहा “मेरा नाम मुमताज है।” और फिर रुक कर मेरे चेहरे पर अपना असली नाम बताए जाने की प्रतिक्रिया खोजने लगी। कहती है “मैंने यहाँ के लिए ही अपना नाम मन्नो रखा है। मेरे घर पर मुझे इस नाम से कोई नहीं जानता।”



लेखिका दिल्ली विश्वविद्यालय के एक कॉलेज में अध्यापन और प्रतिष्ठित पत्रिकाओं में नियमित लेखन करती हैं।
+918383029438
rasatsaagar@gmail.com



अपनी सहेली से फोन पर बात हो रही थी। हम एक-दूसरे से यह साझा कर रहे थे कि हमारे आस-पास के परिवेश में इन दिनों किस तरह के बदलाव नजर आ रहे हैं। अगर कोई अखबार, किताबें इत्यादि न भी पढ़े, सिर्फ आँख-कान खुले रखे तो तो क्या रोजमर्रा के जीवन में कुछ अलग बनता बिगड़ता महसूस होता है? फोन के दूसरी ओर से भी कुछ प्रसंग सुनने को मिले। फिलहाल हम बात करेंगे अपने आवासीय परिसर के जन-जीवन में जुड़ी कुछ नयी आहटों के बारे में, इस ओर से कही गयी बातों के बारे में। दो-तीन साल पहले अचानक अपार्टमेंट के फाटक के बगल में एक-एक करके कुछ समय के अन्तर पर दो बोर्ड लग गये थे, जिन पर लिखा था ‘पहली रोटी गाय को’ और ‘गो संरक्षण समिति’। यह समिति क्या बला है, कब बनी? कुछ नहीं पता पर भावनाओं के किसी उबाल के दिनों में चन्द लोगों ने आनन-फानन में किया होगा क्योंकि कुछ ही दिनों में गो संरक्षण वाला बोर्ड हट गया। चन्द परिवारों ने गाय के लिए रोटी निकालने का अभ्यास कुछ समय

तक चलाया। मगर फिर कम और अनियमित होते-होते जब बन्द हो गया तो वह बोर्ड भी साल-दो साल बाद वहाँ से हट गया। शायद गाय खोजना भारी पड़ा होगा। इस तरफ अमूमन गाय दिखती तो हैं नहीं।

हमारे आवासीय परिसर में जगह सीमित है। पार्किंग की जगह पर ही बच्चे शाम को खेल लेते हैं। चारों ओर पेड़-पौधे लगाए जाने के लिए भी पर्याप्त जगह नहीं है। अपार्टमेंट से बाहर निकलते ही कई मॉल्स, दुकानें और मन्दिर हैं। अपनी-अपनी आस्थाएँ और जरूरतें बड़े सहज ढंग अब तक से पूरी होती आ रही हैं। हर चीज आसान पहुँच में है। तो फिर परिसर के भीतर मन्दिर बनाने का विचार अचानक कैसे पैदा हो गया, समझ नहीं आया। जिसकी इतने सालों में जरूरत नहीं पड़ी अब क्या जरूरत आन पड़ी? इस बात पर न कोई मीटिंग हुई न कोई सूचना। बस सीधे 5-6 लोग घर-घर जा कर मन्दिर के लिए चन्दा माँगने आ गये। मुश्किल से 8-10 अहिन्दु परिवार होंगे अपार्टमेंट में। उनके दरवाजे छोड़ कर हर किसी से चन्दा माँगा गया। अन्ततः

मन्दिर की योजना भी विफल हो गयी। वह इतनी अव्यावहारिक थी कि चन्दा ही बहुत कम हो पाया। अगर बनता तो बच्चे शाम को कहाँ खेलते? पर्यावरण को लेकर हर माध्यम से इतनी जागरूकता फैलाई जा रही है, उसका तो असर दिखता नहीं कि कुछ करना ही है तो पेड़ लगा लिए जाएँ। बस मीडिया में लोगों को वही दिखता है जो उनके भीतर के विभाजनकारी जड़ मूल्यों को पुष्ट कर सके। आजकल बच्चों के भीतर कम उम्र से ही पर्यावरण की चेतना विकसित हो जाती है। इसलिए इस बार दीवाली में अधिकतर बच्चों ने पटाखे चलाने के लिए मना कर दिया था। फिर भी बहुत आवाजें आ रही थीं तो नीचे जा कर देखा तो बच्चे बम-पटाखों से दूर खड़े थे मगर बड़े लोग अपनी आदतों से बाज आने को बिल्कुल राजी नहीं थे। उन्होंने हवा में धुँआ और शोर घोलने में कोई कोताही नहीं की। इस मामले में तो टी-वी की उन्होंने नहीं सुनी।

मेरी ये बातें काम करती हुए घरेलू सहायिका 'मन्नो' के कान पर पड़ गयीं। मेरी मित्र की तो उसने नहीं सुनी इसलिए मेरी बोली गयी बातों पर ही अपने टूटे-बिखरे शब्दों में प्रतिक्रिया दी। और फिर अपने बारे में जो कहा, उसने मुझे बड़ा हैरान और परेशान किया। कहा "दीदी आपको एक बात बताऊँ। पर आप किसी को भी बताना मत। मुझे लगता है आपको बताया जा सकता है।" उसने कहा "मेरा नाम मुमताज है।" और फिर रुक कर मेरे चेहरे पर अपना असली नाम बताए जाने की प्रतिक्रिया खोजने लगी। कहती है "मैंने यहाँ के लिए ही अपना नाम मन्नो रखा है। मेरे घर पर मुझे इस नाम से कोई नहीं जानता। मैं शाम को उर्दू की क्लास भी लेने जाती हूँ और रोजे भी रखती हूँ। पर किसी को बताया नहीं है। इसलिए उन दिनों भी काम पूरा करना पड़ता है।" इस तरह का कोई भेदभाव अपार्टमेंट में दिखता नहीं सब प्रेम से ही रहते हैं। संयोग ही है कि बिल्डिंग के बच्चों की सबसे प्यारी दीदी का नाम भी मुमताज है। वह बच्चों-बड़ों के बीच बड़ी लोकप्रिय है क्योंकि बच्चों को पेंटिंग और अन्य कलाएँ सिखाती है। 15 अगस्त, 26 जनवरी के समारोहों में कला

प्रतियोगिता का आयोजन करती है। गर्मियों की छुट्टियों में बच्चों को घण्टों तक चारदीवारी के भीतर रचनात्मक काम में व्यस्त रखती है तो माँओं को तो प्यारी लगेगी ही। मगर मन्नो को लगता है कि सही पहचान बताने पर उसके काम में फर्क पड़ेगा तो उसके इस एहसास को भी नकारा तो नहीं जा सकता और उसका कहना है कि ये विचार उसके अकेले के नहीं हैं। कितनी अजीब बात है जब सब नागरिकों के पहचान पत्र की बात की जा रही है। दावे किए जाते हैं कि सब नागरिक आधार नम्बर से लिंक होंगे। सबके नाम का बैंक में खाता होगा। एक ओर लोकतन्त्र के ये दावे दूसरी ओर व्यक्ति अपनी सही पहचान छिपाने के लिए ही खुद को मजबूर पा रहा है। इस सच को छिपाने के लिए कितने असमंजस से गुजरना पड़ता होगा। कितना कुछ सहना पड़ता होगा।

पिछले कुछ समय में जिस तरह की घटनाएँ देश भर में घटी हैं और आदमी को आदमी से अलग करने के लिए तमाम तरह की उठापटकें की जा रही हैं। लम्बे समय से चलते आ रहे सामाजिक ताने-बाने में छेड़छाड़ करने वाली घटनाएँ जगह-जगह फूटी हैं। आम मध्य वर्ग के पास सोचने-समझने का न अवकाश है और न ही दिलचस्पी। वह सरकार और मीडिया की आवाज को ही सत्य मानता है। उसके परे की चीज उसे नहीं दिखती। वैसे तो नागरिक होने के नाते हम सबका यह कर्तव्य है कि अपने भीतर वैज्ञानिक बोध (साइंटिफिक टैम्पर) को विकसित करें और संविधान की बुनियादी जानकारी तो सब को होनी ही चाहिए। मगर देश की बहुसंख्य जनता के साथ यह हो नहीं पाया है। नहीं होने की स्थिति में भी सामाजिक गतिकी स्वाभाविक लय से भी वर्तमान के जिस दौर तक पहुँची है, वहाँ पहुँच कर परम्परा के बहुत से प्रश्न बेमानी हो चुके हैं। यथास्थितिवादी बने रहने पर भी लोगों की जिन्दगी से परम्परा के वे पक्ष तो खुद-ब-खुद झड़ ही जाते हैं जिनकी प्रासंगिकता आज बिल्कुल नहीं बची है। भारत जैसे बहुजातीय, बहुसांस्कृतिक राष्ट्र में एक ही समय में विकास के कई स्तर सक्रिय रहते हैं। इसलिए ऐसा भी होता है कि

कुछ मुद्दे किसी स्थान विशेष के लिए अब भी महत्त्व के हों पर किसी और जगह पर न हों। वर्तमान की हवाओं में कहीं कुछ ऐसा है कि महानगर के कंक्रीट के जंगल में एकदम उपभोक्तावादी जीवन जीते हुए भी लोगों के भीतर अस्थायी रूप में सही मगर कुछ ऐसी प्रतिक्रियाएँ सिर उठा रही हैं, जिनकी प्रासंगिकता खत्म हो चुकी थी। उस पर थोड़ा बहुत कोई एक्शन ले कर अपने मन को सन्तोष दे लेते हैं और फिर शान्त हो जाते हैं। आज की जीवन-पद्धति में जिन चीजों की संगति नहीं बैठती, वह लम्बा चल नहीं पाती और दिनचर्या अपने सामान्य ढर्रे पर वापस आ जाती है। हम अपने आवास के ही उदाहरण को लें तो तीनों में से एक भी काम सम्पन्न नहीं हुआ। तो फिर क्या जरूरत थी आखिर ये सब करने की। मगर ये थोड़े समय की सक्रियताएँ भी शान्त दिखते माहौल के भीतर ही भीतर सुगबुगाहट तो पैदा कर ही देती हैं। इन सब बदलावों का ही तो नतीजा होगा मन्नो के भीतर इस तरह का असुरक्षा बोध और डर पैदा होना। अगर लोग आपस में एक-दूसरे से डरते रहे तो कभी एक नहीं हो सकते। एक नहीं होने पर जनशक्ति में नहीं बदलेंगे तो सरकारें अपने हितों की ही वृद्धि करती रहेंगी, जनता के सरोकार के लिए उसे कुछ करने की जरूरत ही क्या है। इस चुनाव में भी पार्टियों के एजेण्डे में जनता के मुद्दे तो गायब ही थे। बिना जनता की बेहतरी के लिए कुछ किए सत्ता अपनी शक्ति बढ़ाती जा रही है। चेताने वाले लक्षण हैं ये। पूरी संवेदनशीलता और सजगता के साथ अपने आस-पास के माहौल पर नजर रहनी चाहिए। सतह पर शान्त दिखते जल के भीतर बारीक से बारीक भी कोई सलवट ऐसी है जो सामाजिक सौहार्द में खलल डाल सकती है, तो उसे पहचान कर वहीं उसे मिटा कर सीधा कर लेना चाहिए। अगर नकारात्मक शक्तियाँ सक्रिय हैं तो शान्त हो कर बैठना काफी कैसे हो सकता है। बल्कि साकारात्मक शक्तियों को भी अपने को सजग और सक्रिय रखना ही होगा वरना हम सामाजिक ताने-बाने का सौन्दर्य नहीं बचा पाएँगे।

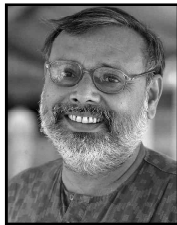
□

गिरीश कारनाड : एक विरल प्रतिभा

रमरा

हृषीकेश सुलभ

जिस भारतीयता का
ढिंढोरा पीट कर आज
राजनीति भारतीय
समाज की साझा
जीवन-शैली और
संस्कृति को नष्ट कर
रही है और घृणा से
भरे हिंसक समाज की
रचना कर रही है, वे
भारतीयता के उस
स्वरूप को नकारते
हुए नाक में
ऑक्सीजन की नली
लगाए विरोध प्रदर्शनों
में शामिल हुए और
नजीर बन गये।



लेखक प्रसिद्ध कथाकार, नाटककार एवं
रंग आलोचक हैं।
+919431072603
hrishikesh.sulabh@gmail.com



भारतीय रंगमंच को आजादी के बाद जिन कुछ नाटककारों ने आधुनिकता बोध से सम्पन्न किया गिरीश कारनाड उनमें से एक थे। उनके निधन के बाद देश भर में जिस तरह व्यापक प्रतिक्रिया हुई और विशेषतः युवा पीढ़ी ने जिस तरह उनके प्रति सम्मान-भाव के साथ शोक प्रकट किया, वह कम ही देखने को मिलता है। इस बीच अँग्रेजी और हिन्दी सहित विभिन्न भारतीय भाषाओं में हजारों स्मृति लेख लिखे गये। अनेक स्मृति सभाएँ आयोजित हुईं। सोशल मीडिया पर शोक संदेशों का अबाध सिलसिला कई दिनों तक चलता रहा। इसमें उनके नाट्यलेखन और फिल्मों में उनकी सक्रियता की भूमिका तो थी ही, साथ-साथ उनके रचनाकार व्यक्तित्व की भी बड़ी भूमिका थी। आज जबकि भारतीय समाज में साहित्य, रंगमंच, पत्रकारिता, फिल्म सहित अन्य सांस्कृतिक क्षेत्रों में सत्ता की चाटुकारिता और सरकारी संस्थानों से लाभ लेने की होड़ मची हुई है, गिरीश कारनाड जैसे सांस्कृतिक व्यक्तित्व की उपस्थिति आश्चर्य का भाव पैदा करती थी कि इस कठिन समय में भी सत्ता की

निरंकुशता से निर्भय होकर टकराने की ताकत ही सृजनशीलता का धर्म है। अपने जीवन के अन्तिम सालों में वे हिंसक और मनुष्य विरोधी होती राजनीति के सामने अपनी छीजती देह के बावजूद दृढ़ मन से खड़े रहे। उनके इस रूप ने निराशा और दिशाहीनता के इस दौर में युवाओं में सच और संघर्ष के प्रति भरोसा पैदा किया और उन्हें सांस्कृतिक नायक के रूप में स्थापित किया। जिस भारतीयता का ढिंढोरा पीट कर आज राजनीति भारतीय समाज की साझा जीवन-शैली और संस्कृति को नष्ट कर रही है और घृणा से भरे हिंसक समाज की रचना कर रही है, वे भारतीयता के उस स्वरूप को नकारते हुए नाक में ऑक्सीजन की नली लगाए विरोध प्रदर्शनों में शामिल हुए और नजीर बन गये।

गिरीश कारनाड अँग्रेजी भाषा के कवि बनना चाहते थे। वे अध्ययन के लिए विदेश गये। विदेश के प्रति उनके आकर्षण ने उनके माता-पिता को चिन्तित किया था। इन्हीं चिन्ताओं से उनके भीतर 'ययाति' नाटक की रचना का बीज अंकुरित हुआ और वहाँ जाकर

उन्होंने इसकी रचना की। आधुनिक भारतीय समाज के लिए भारतीयता की खोज उन्हें बार-बार मिथकों, लोक-कथाओं और इतिहास की ओर ले जाती रही। तुगलक, हयवदन, नागमण्डल, रक्त-कल्याण, अग्नि और बरखा, बलि आदि नाटकों के कथ्य और आंतरिक संरचना में आधुनिक दृष्टि के साथ भारतीयता की तलाश को देखा-परखा जा सकता है।

उनके नाटक 'तुगलक' को व्यापक ख्याति मिली। संवेदनशील कथ्य के कारण इसे आधुनिक भारतीय नाटकों में विशेष महत्त्व प्राप्त है। इस नाटक के प्रमुख पात्र मोहम्मद बिन तुगलक के जीवन में तीव्र और नाटकीय अन्तर्विरोध विन्यस्त हैं। इस अन्तर्विरोध की नाटकीय शक्ति रंगकर्मियों को आकर्षित करती रही है और उनके लिए सम्प्रेषण की रचनात्मक चुनौतियाँ भी प्रस्तुत करती रही है। तुगलक की स्वप्नदर्शिता और इन स्वप्नों को साकार करने के लिए उसकी योजनाओं और व्यवहार के बीच के अन्तर्विरोधों को गिरीश कारनाड एक सशक्त रंगभाषा के माध्यम से नाट्यालेख में आकार देते हैं। तुगलक का पूरा व्यक्तित्व, बाहर और भीतर विरोधाभासों और द्वन्द्व से भरा हुआ है। यह द्वन्द्व नाटक के भीतर उसके चरित्र के माध्यम से त्रासदी और करुणा पैदा करता है। उसके आदर्श स्वप्नों के गर्भ से क्रूरता का दहशतनाक लावा फूटता है। अपने जटिल आवेगों और उलझे हुए विचारों के बीच वह निरन्तर अकेला होता जाता है। शब्द-बहुलता के बावजूद इस नाटक के आलेख के भीतर रंगचर्चा की असीम सम्भावनाएँ हैं। तुगलक के आन्तरिक संघर्षों और बाहरी स्थितियों के बीच एक गहरी अन्विति है। उसकी क्रूरताओं और एकाकी होते जाने की मार्मिकता में अपार नाटकीय सम्भावनाएँ छिपी हुई हैं।

गिरीश कारनाड का नाटक 'हयवदन' अपनी प्रयोगशीलता के कारण निरन्तर चर्चा में बना रहा। टॉमस मान का उपन्यास 'ट्रांसपोज्ड हेड्स' बेताल पचीसी की एक कथा पर आधारित है और कारनाड का यह नाटक इस उपन्यास के केन्द्रीय कथ्य को नयी दृष्टि से प्रस्तुत करता है। सिरों और धड़ों के आपस में बदल जाने से नाटक में दुविधा भरी स्थितियाँ पैदा होती हैं। सब कुछ हासिल कर लेने की इच्छा से जीवन में जो विडम्बनाएँ



पैदा होती हैं वे कई विरोधाभासों और गहन अतृप्तियों का कारण बनती हैं। इन विरोधाभासों और अतृप्तियों के चलते असह्य दुखों और त्रासदियों की यातना से गुजरना पड़ता है। 'हयवदन' इसी यातना को सम्प्रेषित करता है। यहाँ देह और मन का द्वन्द्व भी उपस्थित है और इस सवाल को कि 'जीवन के लिए मन को प्राथमिकता दी जाए या शरीर को', बहुत कलात्मक, नाटकीय और संवेदनशील रूप में उठाया गया है। इसकी रंगभाषा में लचीलापन है, जो प्रयोगधर्मी रंगकर्मियों के लिए आज भी आकर्षण का केन्द्र बना हुआ है। नेमिचन्द्र जैन ने लिखा है, "इस नाटक की संरचना जैसी है, उसके कारण इसे किसी-न-किसी रूप में संगीत, लयबद्ध गतियों, वस्तुओं और स्थितियों के अभिनय तथा लौकिक और अलौकिक के मिश्रण के बिना खेला ही नहीं जा सकता।" अपने एक अन्य प्रसिद्ध नाटक 'नागमण्डल' में भी गिरीश कारनाड यथार्थ और वायवीयता को आपस में गूँथ कर जादुई प्रभाव पैदा करते हैं। यहाँ भी वह एक लोक-कथा को अपनी रचना का आधार बनाते हैं और लोकमर्म को नाटकीय ऊर्जा में रूपान्तरित करते हैं। भारतीय लोक-परम्परा से वे ऐसी भावदशाएँ चुनते हैं, जिनके भीतर हमारे समय के द्वन्द्व छिपे हैं। वे 'रक्त-कल्याण' रचते हुए एक बड़े सामाजिक आन्दोलन के भीतर छिपे तनावों और जीवन के मर्म की अभिव्यक्ति करते हैं। 'अग्नि और बरखा' भी जीवन और समाज के कठोर यथार्थ

की अभिव्यक्ति है।

बारहवीं शताब्दी में रचित एक कन्नड़ प्रबन्ध-काव्य 'यशोचरित' की प्राचीन जैन कथा पर आधारित है उनका नाटक 'बलि'। पहले इसे उन्होंने 'आटे का कुक्कुट' शीर्षक से लिखा था, जिसे बाद में संशोधित-परिवर्तित किया। हिंसा या पाप की जड़ें मानव-मन के भीतर निहित होती हैं। कोई उसे अपने शरीर या वचन से साकार करे या न करे, पर उसकी इच्छा मात्र भी उसे करने की तरह ही है। वचन और कर्म के साथ मन पर नियन्त्रण भी आवश्यक है। इस नाटक में वे इस सूत्र को रेखांकित करते हैं कि हिंसा या व्यभिचार करने वाले की भावना और उसके कर्म में कोई भेद नहीं होता।

गिरीश कारनाड के नाटकों और उनके रचनात्मक व्यक्तित्व ने भारतीय रंगमंच और संस्कृति संसार को प्राणवान बनाया है। वे विरल प्रतिभा थे। उनका जाना दुखद है। जब वे गर्भ में थे, उनके माता-पिता सन्तान नहीं चाहते थे और उनकी माँ गर्भपात के लिए डॉक्टर के पास गयी थीं। यह भारतीय संस्कृति संसार का भाग्य था कि डॉक्टर की अनुपस्थिति के कारण उस दिन गर्भपात न हो सका और फिर उनके माता-पिता का मन बदल गया। यह कल्पना करते हुए ही मन काँप उठता है कि अगर वे नहीं जन्मे होते तो? उनकी स्मृति को नमन!

□

हिन्दी की हिन्दुत्ववादी आलोचना

साहित्य

अमरनाथ

वामपन्थी विचार वाले लोगों की दृष्टि में भारतीय राजनीति में आर.एस.एस. एक ऐसी शक्ति है जो राष्ट्रवाद, जनतन्त्र, राज्य और संघीय ढाँचे, सामाजिक न्याय, समाज सुधार तथा आर्थिक विकास के उन सभी विचारों के सर्वथा विरुद्ध है, जिन्हें आजादी के लिए संघर्ष की प्रक्रिया में आधुनिक भारतीय राष्ट्र ने अकूत त्याग और बलिदानों के जरिए अर्जित किया है। सोवियत संघ के विघटन और भारत में वामपन्थी ताकतों के कमजोर पड़ने के कारण अर्थात् भूमण्डलीकरण के बाद राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ की ताकत में अभूतपूर्व इजाफा हुआ।



लेखक प्राध्यापक और वरिष्ठ आलोचक हैं।
+919433009898
amarnath.cu@gmail.com



जिस प्रकार प्रगतिवादी आलोचना के विकास के पीछे मार्क्सवादी जीवन दर्शन है उसी तरह आधुनिक भारत में हिन्दुत्ववादी आलोचना का भी विकास हुआ है और उसके पीछे हिन्दुत्ववादी जीवन दर्शन है। इस दर्शन का वैचारिक स्रोत राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ है। इसलिए यदि कोई चाहे तो इसे 'संघवादी आलोचना' भी कह सकता है।

राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ एक दक्षिणपन्थी हिन्दू राष्ट्रवादी स्वयंसेवी संगठन है और वह व्यापक रूप से भारत के राजनीतिक दल भारतीय जनता पार्टी का पैतृक संगठन माना जाता है। राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ को संक्षेप में 'संघ' अथवा 'आर. एस. एस.' कहते हैं। राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ की स्थापना 27 सितम्बर 1925 को विजया दशमी के दिन 'मोहिते के बाड़े' नामक स्थान पर डॉ. केशव बलिराम हेडगेवार ने की थी। पाँच स्वयंसेवकों के साथ शुरू हुई विश्व की पहली शाखा आज 50 हजार से अधिक शाखाओं में बदल गयी है। डॉ. हेडगेवार ने शुरू से संघ का कोई संविधान नहीं बनाया और न तो संघ के दर्शन या उद्देश्य के बारे में ही कुछ लिखा। दूसरे सर संघचालक

माधवराव सदाशिवराव गोलवलकर ने 'वी आर आवर नेशनहुड डिफाईंड' शीर्षक से एक पुस्तक लिखी जिसमें पहली बार संघ की विचारधारा और उसके उद्देश्यों के बारे में विवेचन है। लोगों ने इसे 'संघ की गीता' कहा है। बाद में 'बंच ऑफ थाट्स' नाम से उनके भाषणों आदि का एक संकलन तथा छः खण्डों में 'श्री गुरु जी समग्र दर्शन' भी प्रकाशित हुए। राष्ट्र के सम्बन्ध में अपनी अवधारणा के बारे में गोलवलकर लिखते हैं, 'हिन्दुस्तान हिन्दुओं की भूमि है जिसका पुरखों से प्राप्त एक क्षेत्र है...। इस देश में प्रागैतिहासिक काल से एक प्राचीन जाति हिन्दू जाति रहती है...। इस महान हिन्दू जाति का प्रख्यात हिन्दू धर्म है...। निजी, सामाजिक राजनीतिक तमाम क्षेत्रों में इस धर्म से दिशा निर्देश लेकर इस जाति ने एक संस्कृति विकसित की है जो पिछली दस सदियों से मुसलमानों और यूरोपियनों के अधोपतित सभ्यताओं के घातक सम्पर्क में आने के बाद भी विश्व में सबसे श्रेष्ठ संस्कृति है।' (वी आर आवर नेशनहुड डिफाईंड, पृष्ठ 40) उनका मानना है कि सिर्फ वे लोग ही राष्ट्रवादी देशभक्त हैं जो अपने हृदय में हिन्दू जाति और राष्ट्र की शान

बढ़ाने की आकांक्षा रखते हैं और इस लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए प्रयत्नशील रहते हैं।

वास्तव में 'हिन्दुत्व' कोई उपासना पद्धति नहीं, बल्कि एक जीवन शैली है। इसीलिए राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के विचारक 'हिन्दू' शब्द की व्याख्या करते हुए अमूमन कहते हैं कि हिन्दू वह व्यक्ति है जो भारत को अपनी 'पितृ-भूमि' और अपनी 'पुण्य-भूमि' दोनों मानता है। हिन्दुत्व शब्द केवल हिन्दू जाति के कोरे धार्मिक और आध्यात्मिक इतिहास को ही अभिव्यक्त नहीं करता, इसका अर्थ बहुत व्यापक है। हिन्दू समुदाय के लोग विभिन्न मत-मतान्तरों का अनुसरण करते हैं। इन मत-मतान्तरों व पन्थों को सामूहिक रूप से हिन्दूमत या हिन्दुवाद नाम दिया जा सकता है। इस विचारधारा के लोगों का मानना है हर भारतवासी, जो किसी भी मजहब का मानने वाला हो, की रगों में हिन्दू का खून दौड़ रहा है और उसके पूर्वज हिन्दू थे। हममें से कुछ लोगों ने या तो अपनी मर्जी से या दबाव में गैर सम्प्रदाय अपना लिया पर सबकी रगों में एक ही 'जाति' का खून बहता है। इसलिए हममें से जो देशभक्त हैं वे किसी भी पन्थ या सम्प्रदाय को मानने वाले हो सकते हैं।

संघ की विचारधारा में राष्ट्रवाद, हिन्दुत्व, हिन्दू राष्ट्र, राम जन्मभूमि, अखण्ड भारत, समान नागरिक संहिता जैसे विषय हैं। महर्षि अरविन्द, श्यामाप्रसाद मुखर्जी, दीनदयाल उपाध्याय जैसे महापुरुष संघ की वैचारिक ऊर्जा के स्रोत हैं। संघ जिन मौलिक प्रश्नों को उठा रहा है, वे हैं भारतीय सन्दर्भ में राष्ट्रीयता क्या है? पन्थ निरपेक्षता का तात्पर्य क्या है? और बहुसंस्कृतिवाद का भारतीय संस्करण क्या है? ऐसे प्रश्नों पर जब संघ विमर्श करता है तो उसका लक्ष्य 'मैं भारतीय हूँ'—इस कथन को सांस्कृतिक एवं सभ्यता का धरातल प्रदान करना है। आर.एस.एस. के एक प्रचार माध्यम अँग्रेजी साप्ताहिक 'आर्गनाइजर' के पहले अंक (3 जुलाई 1947) के मुख पृष्ठ पर 'तेजोमय हिन्दू राष्ट्र' और अँग्रेजी में 'ग्लोरियस हिन्दू नेशन' छपा है जो उसके उद्देश्य की ओर सीधा संकेत है।

संघ के स्वयंसेवक बड़े ही अनुशासित और अपनी संस्कृति व कर्तव्य के प्रति निष्ठावान होते हैं। किन्तु उनके अनुशासन के बारे में गाँधी जी के मत को उनके निजी सचिव प्यारे लाल

ने उद्धृत करते हुए लिखा है, 'गाँधी जी की टोली के एक आदमी ने टोककर कहा कि आर.एस.एस. के लोगों ने 'वाह शरणार्थी कैम्प' में बहुत अच्छा काम किया है। उन्होंने अनुशासन, साहस और कठिन परिश्रम की क्षमता प्रकट की है। गाँधी जी ने उत्तर दिया था, 'लेकिन भूलो मत कि हिटलर के नाजी और मुसोलिनी के फासिस्ट भी ऐसे ही थे।' उन्होंने आर.एस.एस. का चरित्रांकन एक सर्वाधिकारवादी दृष्टिकोण वाले साम्प्रदायिक संगठन के रूप में किया।' (प्यारेलाल, 'महात्मा गाँधी : द लास्ट फेज', भाग-2, पृष्ठ-440)

महात्मा गाँधी की हत्या और 6 दिसम्बर 1992 को अयोध्या स्थित राम जन्म-भूमि का विवादित ढाँचा सरेआम गिराए जाने के लिए आर.एस.एस. को जिम्मेदार बताया जाता है। वामपन्थी विचार वाले लोगों की दृष्टि में भारतीय राजनीति में आर.एस.एस. एक ऐसी शक्ति है जो राष्ट्रवाद, जनतन्त्र, राज्य और संघीय ढाँचे, सामाजिक न्याय, समाज सुधार तथा आर्थिक विकास के उन सभी विचारों के सर्वथा विरुद्ध है, जिन्हें आजादी के लिए संघर्ष की प्रक्रिया में आधुनिक भारतीय राष्ट्र ने अकूत त्याग और बलिदानों के जरिए अर्जित किया है।

सोवियत संघ के विघटन और भारत में वामपन्थी ताकतों के कमजोर पड़ने के कारण अर्थात् भूमण्डलीकरण के बाद राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ की ताकत में अभूतपूर्व इजाफा हुआ। इसके पहले अर्थात् संघ के गठन के पचास वर्ष बाद 1975 में जब आपातकाल की घोषणा हुई तब आर.एस.एस. की एक घटक तत्कालीन राजनीतिक पार्टी जनसंघ पर भी संघ के साथ प्रतिबन्ध लगा दिया गया था। आपातकाल हटने के बाद जनसंघ का विलय जनता पार्टी में हुआ और केन्द्र में मोरारजी देसाई के नेतृत्व में मिलीजुली सरकार बनी। 1975 के बाद से धीरे-धीरे इस संगठन का महत्त्व बढ़ता गया और अन्त में इसकी परिणति भाजपा जैसे राजनीतिक दल के रूप में हुई जिसे आमतौर पर संघ की राजनीतिक शाखा के रूप में देखा जाता है। संघ की स्थापना के 75 वर्ष बाद सन् 2000 में प्रधानमन्त्री अटल बिहारी वाजपेयी के नेतृत्व में एनडीए गठबन्धन की सरकार भारत की केन्द्रीय सत्ता पर आसीन हुई और उसके बाद सन् 1914 ई. में नरेन्द्र मोदी के नेतृत्व में भाजपा की पूर्ण बहुमत की सरकार बनी जिससे

राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ की शक्ति में अभूतपूर्व विस्तार हुआ। अटलबिहारी वाजपेयी उदारवादी विचारधारा के राजनेता थे। वे स्वयं कवि भी थे। बुद्धिजीवियों और लेखकों के एक समूह पर उसका सकारात्मक प्रभाव पड़ा। कुछ सत्ता से लाभ पाने की ललक में भी उधर झुके और इस तरह हिन्दी में हिन्दुत्ववादी आलोचना की एक धारा का विकास हुआ। भाजपा की पूर्ण बहुमत वाली सरकार बनने के बाद देश में हिन्दुत्ववादी आलोचना की धारा पुष्ट होती हुई दिखाई देती है। यद्यपि आज भी इस आलोचना धारा में हिन्दी के प्रतिष्ठित आलोचक बहुत कम हैं। हम यहाँ कुछ के आलोचना-कर्म का संक्षिप्त परिचय दे रहे हैं।

इस आलोचना धारा के सबसे प्रमुख आलोचक हैं **कमलकिशोर गोयनका** (1938-)। कमलकिशोर गोयनका हिन्दी के अकेले ऐसे आलोचक हैं जिन्होंने अपना सम्पूर्ण जीवन प्रेमचन्द के अध्ययन-अनुशीलन में खपा दिया और वामपन्थी विचारधारा के आलोचकों की पूरी जमात से अकेले मुठभेड़ करते हुए अपनी मान्यताओं के साथ किसी तरह का समझौता न करते हुए डट कर खड़े रहे। प्रेमचन्द के जीवन, विचार तथा साहित्य के अनुसंधान एवं आलोचना के लिए आधी शताब्दी अर्पित करने वाले, देश-विदेश में प्रेमचन्द-विशेषज्ञ के रूप में प्रतिष्ठित कमलकिशोर गोयनका की प्रेमचन्द पर अबतक लगभग पच्चीस पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी हैं। इसके अलावा हिन्दी के अन्य लेखकों पर भी उनकी तेईस किताबें प्रकाशित हैं किन्तु उनकी ख्याति का आधार उनका प्रेमचन्द पर प्रकाशित प्रचुर आलोचना-कर्म ही है।

वामपन्थी आलोचकों द्वारा मुंशी प्रेमचन्द को अपने खेमे में हथिया लिए जाने के खिलाफ कमलकिशोर गोयनका ने जमकर लिखा है और प्रेमचन्द को मार्क्सवादी साबित किए जाने वाली अवधारणाओं का तार्किक ढंग से खण्डन करने की कोशिश की है। प्रेमचन्द की कहानियों का कालक्रमानुसार अध्ययन कमलकिशोर गोयनका की नवीनतम पुस्तक है। इसमें शोधकर्ता प्रो. गोयनका ने समय के बदलावों को चिन्हित करते हुए प्रेमचन्द की कहानियों का विश्लेषण प्रस्तुत किया है। उनके शब्दों में, 'यह पहला प्रामाणिक अध्ययन है, जो प्रत्येक कहानी को कालक्रम में देखता है और परखता है तथा

कहानी के पूर्वापर सम्बन्धों के रहस्यों को भी उद्घाटित करता है।' प्रेमचन्द को किसी वाद-विशेष में बाँधने से अच्छा है यह देखना कि समयानुसार उनमें कौन-कौन से परिवर्तन आए। इन्हें जाने बिना उचित मूल्यांकन सम्भव नहीं है।

कमलकिशोर गोयनका के अनुसार प्रेमचन्द को साधारण जन का कहानीकार कहना उचित नहीं है क्योंकि उनकी संवेदना एवं सहिष्णुता का संसार बहुत ही व्यापक है। यह सच है कि गाँव के प्रति उनकी सहानुभूति और निष्ठा अधिक है किन्तु अपने समय के मध्य और उच्च वर्ग की स्थिति, मनोविज्ञान, जीवन एवं विचारशैली के मर्म के प्रति भी वे अनजान न थे। प्रेमचन्द को गाँव तक सीमित करके उनकी संवेदना को सीमित करना और शहरी जीवन के चित्रण को हाशिए पर डालना उनके समग्र अध्ययन के लिए उचित नहीं है।

कमलकिशोर गोयनका के अनुसार प्रेमचन्द ने अपनी कहानियों में 'लघु मानव' अर्थात् साधारण जन की प्रतिष्ठा करके हिन्दी कहानी के चरित्र में क्रान्तिकारी परिवर्तन किया है। किन्तु इसके मूल में मार्क्सवादी चेतना न होकर स्वामी विवेकानन्द के विचारों का प्रभाव है। प्रेमचन्द के पात्र वास्तव में 'भारतीय विवेक चेतना' के प्रतीक हैं।

कमलकिशोर गोयनका मानते हैं कि प्रेमचन्द ने अपने साहित्य सिद्धान्त आदर्शोन्मुख यथार्थवाद के द्वारा जीवन के समग्र एवं विराट रूप को संग्रहित करने का प्रयत्न किया है, किन्तु हिन्दी के प्रगतिशील आलोचकों ने इसे आदर्श तथा यथार्थ के दो टुकड़ों में बाँटकर जीवन को समग्रता में देखने तथा चित्रित करने की लेखकीय दृष्टि की बड़ी भर्त्सना की है। गोयनका जी के अनुसार इन आलोचकों ने प्रेमचन्द को आदर्शवादी तथा यथार्थवादी दो रूपों में विभक्त करके आदर्शवादी प्रेमचन्द के विरुद्ध यथार्थवादी प्रेमचन्द को खड़ा कर दिया है, जबकि प्रेमचन्द जीवन की सम्पूर्णता के लिए साहित्य में यथार्थ और आदर्श दोनों को अनिवार्य मानते हैं। कमलकिशोर गोयनका के अनुसार प्रेमचन्द के कथा-साहित्य में राष्ट्रीय चेतना मुखर है। वे आर्थिक दृष्टि से भी गरीब नहीं थे और उनके निधन के समय उनकी अन्तिम यात्रा में भी बड़े- बड़े साहित्यकार मसलन प्रसाद जैसे साहित्यकार शामिल हुए थे।

इस तरह प्रेमचन्द के बारे में मार्क्सवादियों द्वारा स्थापित बहुत सी अवधारणाओं का उन्होंने खण्डन किया है।

'प्रेमचन्द विश्वकोश' (पांच भाग), 'प्रेमचन्द का अप्राप्य साहित्य' (दो भाग), 'प्रेमचन्द की हिन्दी-उर्दू कहानियाँ', 'प्रेमचन्द के उपन्यासों का शिल्प-विधान', 'प्रेमचन्द और शतरंज के खिलाड़ी', 'प्रेमचन्द : अध्ययन की नयी दिशाएँ', 'प्रेमचन्द चित्रात्मक जीवनी' आदि कृतियाँ कमलकिशोर गोयनका की कीर्ति के आधार हैं।

इस धारा के अन्य आलोचकों में **मृदुला सिन्हा** मुख्य रूप से कथाकार हैं किन्तु उनकी स्त्री विमर्श पर केन्द्रित पुस्तकें भी हैं उनमें 'बिटिया है विशेष' तथा 'मात्र देह नहीं है औरत' उल्लेखनीय हैं। उनका स्त्री विमर्श मर्यादित एवं परम्परानुकूल है। तात्पर्य यह कि वे कन्या-जन्मोत्सव, कन्या भ्रूणहत्या के विरुद्ध, विवाहपूर्व परामर्श तथा विवाह विघटन को रोकने जैसे विषयों पर लिखती हैं। वे भारतीय जनता पार्टी से जुड़ी हैं और सम्प्रति गोवा की राज्यपाल हैं। **सदानन्द प्रसाद गुप्त** (1952) भक्ति साहित्य के गम्भीर अध्येता हैं। 'हिन्दी साहित्य : विविध परिदृश्य', तथा 'राष्ट्रीय अस्मिता और हिन्दी साहित्य' इनकी प्रमुख आलोचनात्मक कृतियाँ हैं। सदानन्द प्रसाद गुप्त ने 'राष्ट्रीयता के अनन्य साधक महन्त अवैद्यनाथ' (तीन खण्ड) 'संस्कृति का कल्पतरु कल्याण', 'आचार्य रामचंद्र शुक्ल', 'निर्मल वर्मा का रचना संसार', 'अज्ञेय : सृजन के आयाम', 'संस्कृति संवाद', तथा 'सुमित्रनन्दन पन्त' का सम्पादन भी किया है। **करुणाशंकर उपाध्याय** (1968) नयी पीढ़ी के ऊर्जावान आलोचक हैं। मध्यकालीन से लेकर आधुनिक साहित्य तथा पाश्चात्य से लेकर भारतीय काव्यशास्त्र तक सभी क्षेत्रों से सम्बन्धित उनकी कृतियाँ प्रकाशित हैं। 'सर्जना की परख', 'साहित्यकार बेकल : संवेदना और शिल्प', 'आधुनिक हिन्दी कविता में काव्य-चिन्तन', 'मध्यकालीन काव्य-चिन्तन और संवेदना', 'पाश्चात्य काव्य- चिन्तन', 'आधुनिक कविता का पुनर्पाठ', 'हिन्दी कथा-साहित्य का पुनर्पाठ', 'आवाँ विमर्श', हिन्दी साहित्य : मूल्यांकन और मूल्यांकन', 'वक्रतुंड : मिथक की समकालीनता', 'माया गोविन्द : सृजन के अनछुए सन्दर्भ', 'साहित्य और संस्कृति के सरोकार' आदि उनकी आलोचनात्मक

पुस्तकें हैं। सोशल मीडिया का सार्थक उपयोग करने में करुणाशंकर उपाध्याय सिद्धहस्त हैं। **जय प्रकाश** (1943) तुलसी साहित्य के गम्भीर अध्येता हैं। मध्यकालीन साहित्य इनके अध्ययन का प्रिय क्षेत्र है। 'तुलसीदास : नये साक्षात्कार', 'बिहारी की काव्य-सृष्टि', 'ध्वनि और रचना सन्दर्भ', 'काव्य में अर्थबोध की समस्या' आदि इनकी प्रमुख प्रकाशित पुस्तकें हैं। जय प्रकाश जी ने 'कविवर देव' नाम से साहित्य अकादमी के लिए विनिबन्ध भी लिखा है। **सुरेन्द्र दुबे** (1953) पर शैली विज्ञान का विशेष प्रभाव है। 'कामायनी का शैली वैज्ञानिक अध्ययन', 'दिनकर की काव्यभाषा का संरचनात्मक अध्ययन' तथा 'काव्यादर्श और काव्यभाषा' उनकी प्रमुख प्रकाशित पुस्तकें हैं। **नन्दकिशोर पाण्डेय** (1965) भक्तिकाव्य के विशेषज्ञ हैं। 'सन्त साहित्य की समझ' और 'सन्त रज्जब' शीर्षक उनकी आलोचनात्मक पुस्तकें हैं। केन्द्रीय हिन्दी संस्थान का निदेशक रहते हुए उन्होंने हिन्दी साहित्य की समृद्धि तथा पूर्वोत्तर की भाषाओं को हिन्दी से जोड़ने की दिशा में ऐतिहासिक कार्य किया है। **त्रिभुवन नाथ शुक्ल** (1953) का काम मुख्यतः भाषा के तकनीकी पक्ष पर है किन्तु मध्यकालीन व आधुनिक साहित्य की समीक्षा को लेकर भी उनकी कुछ पुस्तकें प्रकाशित हैं, जिनमें 'समीक्षक नन्ददुलारे वाजपेयी', 'अवधी साहित्य की भूमिका', 'मध्यकालीन कविता का पाठ' तथा 'भारतीय राम साहित्य का विकास' प्रमुख हैं। **कुमुद शर्मा** की आलोचना का कोई विशेष क्षेत्र नहीं है। उन्होंने मीडिया और पत्रकारिता के क्षेत्र में भी कार्य किया है और स्त्री-विमर्श पर भी लिखा है। 'भूमण्डलीकरण और मीडिया', 'जनसम्पर्क प्रबन्धन' तथा 'विज्ञापन की दुनिया' नाम से उनकी पुस्तकें प्रकाशित हैं। 'भारतीय साहित्य के निर्माता : अम्बिका प्रसाद वाजपेयी' विषय पर उन्होंने साहित्य अकादमी के लिए विनिबन्ध भी लिखा है। **अवजिनेश अवस्थी** ने तुलसी साहित्य का विशेष अध्ययन किया है। 'गोस्वामी तुलसीदास : अध्ययन की दिशाएँ' तथा 'आलोचना के नये परिदृश्य' जैसी उनकी आलोचनात्मक कृतियाँ प्रकाशित हैं। भारतीय जनता पार्टी के बहाने राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ का प्रभाव जैसे-जैसे बढ़ रहा है हिन्दी आलोचना की यह धारा भी मजबूत हो रही है। □

राजनैतिक मूल्यों की अनुपस्थिति में

सामयिक

मेधा पाटकर

इस बार हवाई नहीं तो चुनावी फायरिंग होगी, ऐसा मानने वालों का विश्वास था कि यह चुनाव किसानों-मजदूरों के, महिला-युवा-बेरोजगारों के मुद्दों पर लड़ा जायेगा!...अचानक पुलवामा-बालाकोट से पुकार आयी। वहाँ कौन, कितने, कब पहुँचे, फिर कौन, कितने, कैसे शहीद हुए...यह पता भी नहीं चला! किन्तु उस काण्ड को लेकर प्रधानमंत्री का सीना, विरोधियों के तमाम हमले झेलकर भी 56 इंच से अधिक चौड़ा हुआ। 'राष्ट्रवाद' पर लम्बी, चौड़ी, गहरी बहस को, 'शहीदवाद' को उभरते हुए देखा गया और राजनीति के 'संघीय' ही नहीं, 'राष्ट्रीय' रणनीति के सामने हार स्वीकार करनी पड़ी।



लेखिका नर्मदा बचाओ आन्दोलन की नेत्री और प्रसिद्ध पर्यावरणविद हैं।
+919423965153
medha.narmada@gmail.com



घोषित हुए चुनाव नतीजों से चुनाव पर नजर रखने वाले लोग चकित हैं। जनतन्त्र की यह महत्वपूर्ण प्रक्रिया चुनाव, सत्ता के लिए नहीं, जनता के लिए आज तक जीवित है। इस पर भरोसा रखकर ही जनता आज तक अपने देश के शासन के साथ संसाधन, सम्पदा, संस्कृति, संरचना और संविधान चुने गए प्रतिनिधियों को सौंपकर निश्चिन्त होती आयी है। इन साधनों से जो साध्य हासिल करने हैं, वे भी जन प्रतिनिधि ही, जो शासक बनेंगे, तय करेंगे, ऐसा मानकर जनता, स्वयं जनार्दन होते हुए भी उन्हें जगन्नाथ के रूप में देखती, स्थान सम्मान देती रही है। 1951 से चलते आए जनप्रतिनिधि कानून में चुनावी सुधार पर कमजोर आवाज उठती रही है।

इस बार के लोकसभा चुनाव एक चुनौती मानकर लड़े गये। इसके कारण कई सारे थे। एक, पिछले 2014 के चुनाव में चली मोदी हवा, जो तूफान साबित हुई थी, के बावजूद उनके कई निर्णय, विकास की दिशाएँ, विदेश वारियाँ, झूठे दावे, वचन भंग और कार्पोरेटी भ्रष्टाचार पर जनता की ओर से आरोप पत्र

लगाये गये थे। जाति और मजहब की राजनीति और राष्ट्रवाद का राजनीतिकरण, जो 2014 की जीत के बाद मोदी, शाह और मोदी समर्थकों द्वारा उठाये गये फ़ैक्टर नहीं, फोर्स था, जनता के सामने खुलेआम पेश किया गया, वह भी अभिमान के साथ! इसे असंवैधानिक और अमानवीय कहकर नकारने वालों का जेल भुगतना निश्चित हो चुका था। विचारवन्त समझ गये कि संविधान नहीं, तो भी कानूनों में बदलाव लाकर पर्यावरण, श्रमिक अधिकार, आदिवासियों के हक, दलितों का सम्मान, पंचायत राज और ग्राम सभा का स्थान, ये सारे स्तम्भ खोखले किये जा रहे हैं। विकास का ढिंढोरा और सीमावर्ती सुरक्षा के लिए युद्ध का ताण्डव दोनों हावी होने पर जन-जन को चुभने वाले उपर्युक्त मुद्दों पर कुछ पानी छिड़काया गया। जी.एस.टी. और नोटबन्दी के आघात झेलने वाले भी उसे भूलते गये।

फिर भी बहुत हकीकतें उजागर हुईं। मन की बातों का पर्दाफाश हुआ। फसल बीमा हो या नोटबन्दी, कम्पनियों के ही लाभ के

आँकड़े सामने आये। मीडिया में अम्बानी, अडानी के शेयर्स के हस्तक्षेप के बावजूद दो गुटों में मारामारी और लाचारी दोनों की चली। उसमें पड़े न्यूज और प्रचार-प्रसार में पार्टियों के हजारों करोड़ों के खर्च का हिसाब तो सामने नहीं आया लेकिन सोशल मिडिया में जानकारी का विस्फोट ही नहीं विश्लेषण भी छाया रहा। इस स्थिति में इस बार हवाई नहीं तो चुनावी फायरिंग होगी, ऐसा मानने वालों का विश्वास था कि यह चुनाव किसानों-मजदूरों के, महिला-युवा-बेरोजगारों के मुद्दों पर लड़ा जाएगा!...अचानक पुलवामा-बालाकोट से पुकार आयी। वहाँ कौन, कितने, कब पहुँचे, फिर कौन, कितने, कैसे शहीद हुए.....यह पता भी नहीं चला! किन्तु उस काण्ड को लेकर प्रधानमन्त्री का सीना, विरोधियों के तमाम हमले झेलकर भी 56 इंच से अधिक चौड़ा हुआ। 'राष्ट्रवाद' पर लम्बी, चौड़ी, गहरी बहस को, 'शहीदवाद' को उभरते हुए देखा गया और राजनीति के 'संघीय' ही नहीं, 'राष्ट्रीय' रणनीति के सामने हार स्वीकार करनी पड़ी।

राजनीति में जातिवाद कहीं खुलकर, तो कहीं छुपकर हावी रहता ही आया है। बिहार इत्यादि प्रदेशों में ही नहीं, महाराष्ट्र में भी जाति के समीकरण का प्रभाव अभिमान के साथ बताया जाता है, अर्थात् जाति निर्मूलन की मंजिल दूर रखकर, उसी की ओर चलने का दावा। अब जाति के आधार पर प्रधानमन्त्री जी भी स्वयं वोट की अपील कर चुके तो दलितों, बहुजनों को भी अस्मिता पर अधिक और अस्तित्व के मुद्दों पर कम उर्जा और उद्वेग जताते देखा गया।

लेकिन उससे भी ज्यादा, अब मजहबी स्पर्धा और मूल तत्त्वों के आधार पर हिंसा ही नहीं, अमानवीयता फैलाने की मनीषा भी राजनीतिक हथियार के रूप में काम आने लगी। यह आन्तरिक युद्ध तो राष्ट्र की सीमाओं पर घटित हरकतों से भी ज्यादा भय, आतंक, हिंसा और दुश्मनी का आविष्कार करने की स्थिति है।

इस चुनाव में ईवीएम और ईसी, दोनों के कारनामों पर सन्देह व्यक्त किया गया, जिसके प्रमाण भी पेश हुए। लेकिन सवालात का प्रभाव चुनावी दौड़-धूप में बहुत कम

दिखाई दिया, तो कड़ियों ने इसे आधे पर ही छोड़ दिया। आरबीआई, सीबीआई, न्यायपालिका, एनजीटी आदि को कटघरे में खड़े करने पर ऐसी स्थिति आयी जैसे कि इसका जवाब देना तो सवाल करने वालों की ही जिम्मेदारी है।

हर चुनाव की तरह इस चुनाव में भी जनता के घोषणा पत्रों की भरमार रही। घोषणा पत्रों में, इसे वचन पत्र या संकल्प पत्र ही क्यों न कहें, महिला, युवा, श्रमिक, आदिवासी या दलितों के मुद्दों में से कुछ चुनकर लिए गये, जो काँग्रेस, राजद, भाकपा जैसी पार्टियों के घोषणा पत्रों में बहुत कुछ दिखाई दिये, फिर भी उनके प्रचार-प्रसार के दौर में ऐसे मुद्दों को, जैसे असुरक्षित रखे गये श्रमिकों के, महिलाओं के साथ हिंसा के, दलितों या आदिवासियों के स्वशासन के, पर्यावरणीय... या आर्थिक और बराबरी का कितना स्थान और समय मिला, कितनी लगन दिखाई दी? शायद उतनी ही जितनी आवाज उठी थी। ना केवल चुनाव की, बल्कि दो चुनावों के बीच की भी, राजनीति में, संसदीय और पंचायती राज की प्रक्रिया में भी अवकाश नहीं पाते और राजनीतिक निर्णयों का, जिसमें सामाजिक-आर्थिक आयाम भी शामिल रहें जनतान्त्रिक प्रक्रिया का आधार नहीं बनाते। यही कारण है कि जन जन के संगठित होकर किये गए सारे प्रयास सीमान्त रहते हैं।

वोट बैंक की यह राजनीति जब नशायुक्त अभियान बन जाती है तो, नशा पैदा करने वाली चीजों का, कम या अधिक उपयोग किए बिना वोट नहीं मिल सकता है। राजनीति को नशामुक्त करने की जिम्मेदारी उठाना जरूरी है पर कोई इसके लिए कन्धा देने को तैयार नहीं है। इस राज और नीति के नाम पर चल रहे खेल में या रण मैदान में उतरे किसी खिलाड़ी से न ही पूरी शुचिता की, न ही कुनीति पर चलने वालों को रोकने का जोखिम लेने की अपेक्षा कर सकते हैं। क्या इस जिन्दगी में हम कुछ हद तक भी बुनियादी परिवर्तन ला पाएँगे, इसका जवाब ढूँढना जरूरी है।

इसीलिए जीत-हार का विश्लेषण, ईवीएम और वीवीपैट की गणना को सही मानकर करें, तो जनतान्त्रिकता के सिक्कड़ने के कई कारण सामने आते हैं। जाति-धर्म के नाम

पर विभाजन न चाहने वाले एक मंच पर आये, लेकिन मोर्चा नहीं बना पाये...जो समान एजेण्डा पर बन सकता था। तो धर्म का बोलबाला इतना बढ़ा और राजधर्म तथा मानव धर्म का इतना कम रहा कि साध्वी के रूप में उतर आयी प्रज्ञा ठाकुर की उम्मीदवारी और उनके राष्ट्रविरोधी बयान भी उनकी पार्टी को अभिमानित करते दिखाई दिए, बस कुछ औपचारिक रूप से विरोध दिखा दिया गया। फिर दिग्विजय सिंह जी के लिए साधू-बाबाओं का रास्ते पर उतर आना भी कड़ियों-को अपरिहार्य महसूस हुआ। झारखण्ड और महाराष्ट्र तथा गुजरात के आदिवासी क्षेत्रों में आदिवासियों के समर्थक रहे नेतृत्व को भी नहीं बख्सा, यह कैसे विश्लेषित करें? मीडिया द्वारा सबसे अधिक पापुलर बन गये कन्हैया कुमार को भी हार खानी पड़ी, क्यों? उ.प्र. में सपा-बसपा एकता के बावजूद भीतरी मनमुटाव छुपा रहा, ना ही मध्यप्रदेश में काँग्रेस के ही अपने नेताओं के बीच का। ये कहीं विचारहीन बातें करते नजर आये, तो कहीं इस इवेंट मैनेजमेंट के खेल में अकुशल साबित हुए। बिखराव का यह फैक्टर टकराया अस्मिता भरी एकजुटता से जिसमें राष्ट्र और धर्म एक होकर पेश किया गया।

बंगाल में भाजपा ने जगह बनायी तो इसमें माना जाता है कि वामपन्थी मानी गयी जनता ने भी भाजपा को अपनाया, और काँग्रेस ने केरल में वाममोर्चा को नीचे दिखाया। जिन राज्यों में कुछ ही महीने पहले सत्ता पलट हुआ था उसमें क्या मतदाताओं की राय पलट गयी? इतने कम समय में यह हुआ तो किस आधार पर? कर्ज माफी या बेरोजगार भत्ता के आश्वासनों का पालन नहीं हुआ? जो और जितना हुआ, उसका ठोस प्रचार सत्ता में बैठे नेतृत्व से नहीं कर पाना और विरोधियों द्वारा उसका फायदा उठा लेना यह अनुभव है, मध्यप्रदेश, छत्तीसगढ़ और राजस्थान का! कहीं नयी सरकार को फँसाने वाले पुराने शासन के भ्रष्ट अधिकारी थे, और कहीं ऐसे समुदाय थे, जो रुठे थे क्योंकि उनके सवालियों से दो चुनावों के बीच निपटने की कोशिश तक नहीं हुई! राजनीतिक रणनीतियों में क्या कम पड़े ये नये सत्ताधीश? पुरानी पार्टियों के अनुभव की कमी नहीं तो भी उनका कुछ

आत्मविश्वास आड़े आया? कई क्षेत्रों में प्रचार सभाओं की होड़ में बड़ी पार्टियाँ जिन्हें कोर्पोरेट जगत के साथ कम मात्रा में मदद मिली हो पीछे पड़ी, तो कहीं उम्मीदवारों का चुनाव फंडिंग के आधार पर होता दिखाई दिया। 'आप' के मुख्यमंत्री ने खुद माना कि भाजपा ने दिल्ली के संसदीय प्रत्याशी अच्छे व्यक्तियों को चुना! तो 'आप' में क्या कमी थी, अच्छे, ईमानदारों की? आतिशी जैसी उम्मीदवार को बेनामी ताकतों ने बदनामी का दाग लगाकर हराया! इन गन्दी हरकतों को देश ने कोसा लेकिन चुनाव आयोग ने नहीं।

इस बार यह कहने का मौका नहीं कि कम प्रतिशत वोट लेकर सत्ता कैसे? अगर ईवीएम का घोटाला नहीं हुआ हो तो 46% वोट पाकर ही सत्ता में आयी है भारतीय जनता पार्टी! पिछले चुनाव में 31% से बढ़ गया उनका हिस्सा जो जन समर्थन ही माना जाएगा। फिर भी 46%-54% वाला यह जनतन्त्र कहाँ तक प्रतिनिधित्व करेगा, उन बेजुबानों का, जिन्होंने वोट किसी को भी दिया हो, अपना हक तो ना छोड़ा है, न छोड़ सकते हैं? उनकी संख्या वोटों से नहीं, कहीं नोटों से, तो कहीं उनकी मेहनत-प्रकृति की पूँजी से गिनो तो वे ही हैं बहुसंख्य! जाति-मजहब के आधार पर अल्पसंख्यक साबित हुए सब तो भुगत रहे हैं हमला-हिंसा और लूट का, अवमानना और अन्याय का! लेकिन इन विभाजकों के पार बनी बहुसंख्या ही जनतन्त्र की सही ताकत है। भले वोटों की राजनीति की मान्यता बनी रहे, समाज में मूल्यरोपण, हकदारी के संघर्ष, अन्याय की खिलाफत, विनाशकारी विकास की पोलखोल और संविधान की सुरक्षा भी लाने-रखने वाले अपना जनाधार, जनशक्ति चुनाव के पार तभी बना रखेंगे जबकि चुनावी प्रक्रिया में भुलाए, दबाए गये उनके सवाल और समस्याओं को, वे सभी साथी जिन्हें लोकतन्त्र को जीवित रखना है और समता-न्याय की तलाश है, हाथ लेकर टूट पड़ेंगे।

धर्म मूलतत्वाद और धर्म निरपेक्षता के आधार पर चुना जाकर 'राज्य' चलाना चाहने वालों ने भी शायद अन्य मुद्दे जैसे विकास, सुशासन, या जनतन्त्र जैसे मुद्दों पर जो परीक्षा देनी है, उसकी भनक ही नहीं प्रत्यक्ष अनुभूति देखकर भी वंचित, शोषित समुदायों ने उन्हें

अपना अनोखा डण्डा चलाकर तो नहीं दिखाया। सबरी माला जैसे मुद्दों पर हजारों हजारों महिलाएँ कतार में खड़ी हुईं। वाममोर्चा के साथ सर्वोच्च अदालत के फैसले के अमल के लिए! लेकिन काँग्रेस ने भाजपा से कुछ अलग याने बीच की भूमिका को लेकर परम्परा को भी सम्मानित किया...। क्या भाजपा-काँग्रेस के बीच सेक्युलर लेकिन संवादशील बने रहे काँग्रेसियों को बहुमत से जीता कर केरल की विकास से प्रभावित जनता ने वाममोर्चा सरकार की संवादहीनता नकारी है, यही मानना है जन संगठनोंका? पूरे देश में काँग्रेस ने भी अपने ही लाये हुए जनवादी कानूनों को प्रचारित करने में सफलता नहीं दिखायी।

अब सूचना का अधिकार हो या वन अधिकार, नया भू-अधिग्रहण हो या 'पेसा', फेरी वाला कानून हो या पर्यावरणीय कानूनइन सब में पुलवामा दौर में बदलाव किए गये हैं या मसौदे तैयार हैं। इसका सामना सत्याग्रही मार्ग पर चलकर करने वालों की देश में कमी नहीं है। जनसंगठनों की एकता के साथ, उन मुद्दों पर समविचारी दलों का आन्दोलनकारी बनकर सामने आना, हिम्मत से निःस्वार्थी, जनवादी वृत्ति से सत्ता-लालच के परे हाथ मिलाना, जनतन्त्र को मजबूत कर सकेगा। सेक्युलर पार्टियों की एकता अगर इन जन आन्दोलनों के मुद्दे पर बनती है तो नर्मदा हो या नियमगिरी, फसलों के सही दाम हो या श्रमिकों के कानून, पर्यावरणीय से आर्थिक-संवैधानिक संस्थाओं के नीति-नियम भी मुद्दे होंगे, जिन्हें जितने संसद में, उससे अधिक संसद बाह्य राजनीति से चुनौती देते रहेंगे। चुनावी व्यवस्था में विकेन्द्रीकरण और ईवीएम ही नहीं, यह वोट बैंक की मशीनरी ही बदलकर अधिक मूल्यवान बनाने की कोशिश प्राथमिकता लेकर बढ़ेगी। चुनावी सुधार नहीं बुनियादी परिवर्तन केवल 1951 के कानून में बदलाव से ही नहीं, जनतन्त्र पर नया नजरिया लाकर ही सम्भव होगा! पाँच सालों में यह मौका है उन सबके लिए जिनके मुद्दों पर सही पक्ष जिन्हें कटघरे में नहीं तो भी हाशिये पर खड़ा कर दिया है जनता ने। लेकिन यही जनता स्वयं भी वहीं है, इर्दगिर्द में...साथ लेने-देने के लिए तैयार। आइये-मिलाइये हाथ, दिलायें न्याय!! □

सबलोग के महत्त्वपूर्ण अंक

लोकतन्त्र और आतंकवाद
महात्मा का हिन्द स्वराज
भाषा, विचार और लोकतन्त्र
आम आदमी और खाद्यान्न संकट
बिहार का सच और संकट
नक्सलवाद और राजसत्ता
उच्च शिक्षा का बाजारीकरण
आधी आबादी का संघर्ष
जाति का जहर
मीडिया का छल
भारत में मुसलमान
आदिवासियत पर आँच
वामपन्थ का भविष्य
भ्रष्टाचार के इस भीषण दौर में
साम्राज्यवाद बनाम स्वराज
पंचायती राज की मुश्किलें
यौन हिंसा के विरोध में
अभिव्यक्ति, आजादी और अराजकता
पड़ोसी देश और भारत की विदेश नीति
नेहरू की विरासत और सियासत
भारत में जन आन्दोलन
पार्टी, विचारधारा और लोकतन्त्र
दलित राजनीति की समकालीनता
अभिव्यक्ति, सरकार और सरोकार
sablogmonthly@gmail.com

गड़े खजाने पर कुण्डली मारे बैठा साँप

एक पुरातत्ववेत्ता की डायरी

शरद कोकास

लेकिन यदि साँप काट भी
ले तो उसके दंश से जाना
जा सकता है कि वह
पायजनस है या नान
पायजनस। पायजनस साँप
के दाँतों के निशान साफ
दिखाई देते हैं। नॉन
पायजनस साँप के दाँतों के
निशान छोटे छोटे यू
आकार के होते हैं।
'लेकिन सर ये बैगा,
ओझा, गुनिया लोग जो
साँप का जहर उतारने का
दावा करते हैं' 'अरे
वो सब बेवकूफ बनाते हैं।'



आज हम लोगों ने खुदाई शुरू ही की थी कि जाने कहाँ से एक साँप घूमता हुआ आ गया और हमारी ट्रेंच में घुस गया। मजदूर लोग डर कर दूर खड़े हो गये। उन दिनों युनिवर्सिटी से एक शोधकर्ता भी वहाँ आया हुआ था, उसने आव देखा न ताव तुरन्त एक लाठी उठायी और साँप को मारने के लिए तत्पर हुआ ही था कि डॉ. वाकणकर ने उसे डाँट लगाई क्या करते हो, यह साँप जहरीला थोड़े ही है... और होता भी तो साँप को मारते हैं क्या? 'खैर हमने गढ़डे में फँसे उस बेचारे साँप को टांग टूंग कर बाहर निकाला, बाहर निकालते ही वह झाड़ियों की ओर भागा और गुम हो गया।' अशोक ने कहा.. 'बेचारा...सोच रहा होगा, कहाँ इन जहरीले आदमियों के बीच फंस गया।'



लेखक पुरातत्ववेत्ता, कवि और कहानीकार हैं।
+918871665060
sharadkokas.60@gmail.com

दिखाई देते हैं। नॉन पायजनस साँप के दाँतों के निशान छोटे छोटे यू आकार के होते हैं। 'लेकिन सर ये बैगा, ओझा, गुनिया लोग जो साँप का जहर उतारने का दावा करते हैं...' 'अरे वो सब बेवकूफ बनाते हैं।' सर ने कहा...'अव्वल तो वे दंश देखते हैं...यदि जहरीले साँप का दंश रहा तो मना कर देते हैं, आज नहीं उतारूँगा, आज पूर्णिमा है, आज एकादशी है, गुरुवार है आदि कह कर...और नानपायजनस रहा तो फिर बात ही क्या...दो चार बार जहर उतारने का नाटक करते हैं और भोले-भाले ग्रामीणों से पैसा वसूलते हैं।'

'सर, ऐसा कहते हैं कि मन्त्र से जहर उतर जाता है?' अजय ने पूछा। सर हँसने लगे 'अरे पगले...जहर होगा तभी ना उतरेगा... नानपायजनस साँप का जहर चढ़ता ही नहीं तो उतरने का सवाल भी पैदा नहीं होता और साँप पायजनस रहा तो मन्त्र पढ़ो या सिनेमा का गीत गाओ एक ही बात है उनके बाप से भी नहीं उतरने वाला...उसके लिए तो विषरोधी इंजेक्शन ही लगाना पड़ेगा।' 'अच्छा' अजय ने कहा 'इसीलिए जब ये मान्त्रिक या बैगा लोग देख

लेते हैं कि विषधारी साँप ने काटा है तब ये बहाने बनाने लगते हैं...या कहते हैं कि अस्पताल ले जाओ। रवींद्र ने आगे कहा 'या फिर कोई जिद्दी बैगा नाम कमाने में चक्कर में अपना जोर अजमाता है और तब तक देर हो जाती है और मरीज मर जाता है।' सर ने कहा 'क्या करोगे भाई...अपने देश से अन्धविश्वास कब दूर होगा...पता नहीं।'

ट्रेंच से साँप की विदाई के पश्चात काम फिर आगे बढ़ा। आज हमें रेत की लेयर के नीचे फ्लोर तक पहुँचना ही था। लेकिन मजदूरों में काम के प्रति कोई उत्साह नहीं दिखाई दे रहा था। शायद वे साँप देखकर डर गये थे। 'कई व्ही गयो?' डॉ. वाकणकर ने उनकी असमंजसता देख कर उनसे पूछा। एक मजदूर ने धीरे से कहा 'बासाब यहाँ गड़ा हुआ खजाना तो नहीं है?' सर ने जोरदार ठहाका लगाया और कहा...'अरे तुम लोग कहीं यह तो नहीं समझ रहे हो कि यह खजाने वाला साँप था और अपने खजाने की रक्षा के लिए यहाँ बैठा था?' मजदूर बेचारे क्या कहते, वे तो सदियों से चली आ रही इस मान्यता के निरक्षर संवाहक थे। सर ने कहा 'भई जमीन में गड़े खजाने की रक्षा करने वाला साँप होता है, यह सब मनगढ़न्त बातें हैं। उस जमाने में बैंक तो होते नहीं थे सो लोग देशाटन पर जाते हुए कई बार अपना खजाना जमीन में गाड़ देते थे और चोरों से बचाने के लिए यह अफवाह फैला देते थे। या जो चोर लोग होते थे वे भी जनता में भय व्याप्त करने के लिए ऐसी अफवाहें फैलाया करते थे।'

फिर सर हम लोगों की ओर मुखातिब होकर बोले 'यही कारण है कि अपने देश में अभी भी ऐसी मान्यतायें व्याप्त हैं। एक बार की बात है, हम लोग एक साइट पर उत्खनन कर रहे थे, वहाँ गाँव वाले रोज आते थे और पूछते थे 'कई बा साब सोणा खोदण वास्ते आया हो कई?' एक गड़रिया बालक तो रोज आता था और घण्टों खड़ा रहता था। रोज सुबह आते ही सबसे पहले वह पूछता 'कई सोणा मिल्यो कई?' मैं ना में सर हिला देता तो वो फिर पूछता 'फेर कई मिल्यो?' तो मैं ये टूटी-फूटी पॉटरीज की ओर इशारा कर देता और कहता 'ई मिल्यो है।' तो वह बड़े लोगों की तरह सिर हिलाता और कहता। 'हूँ ठीकरो

मिल्यो है।' और फिर वह हँसता हुआ चला जाता। उन्हें क्या पता हम जिस दबे हुए इतिहास को खोदकर निकाल रहे हैं वह सोने से भी ज्यादा कीमती है।

'सही है।' रवीन्द्र ने कहा 'हम लोग जब शाम को दंगवाड़ा जाते हैं तो गाँव के लोग यही सवाल करते हैं कि गड़ा हुआ खजाना खोदने आये हो क्या। रवींद्र ने दंगवाड़ा का नाम क्या लिया सर का ध्यान हम लोगों की शरारत की ओर चला गया। उन्हें आर्य साहब ने बता दिया था कि हम लोगों ने राम मिलन को अगिया बेताल के नाम पर डराने की शरारत की है। उन्होंने तुरन्त कहा 'अच्छा तो तुम लोग दंगवाड़ा इसीलिए जाते हो कि बापड़े को परेशान करो। वो तो अच्छा हुआ मैंने तुम लोगों की तरफ से उसे समझा दिया नहीं तो वो कैम्प छोड़कर जा रहा था।' हम लोग क्या कहते, कहाँ हमें

प्राचीन भारतीय इतिहास में इम्मे करना पड़ा और यहाँ जंगल में मरने के लिए आना पड़ा।'

हम लोग सोचकर गये थे कि उस दिन की घटना के लिए राममिलन भैया से माफी माँगेंगे और ऐसी कोई बात नहीं करेंगे जिस से उन्हें बुरा लगे। लेकिन इस से पहले कि हम कुछ कहते उनके जिगरी दुश्मन किशोरवा ने उन्हें छेड़ दिया 'तुम पिछले जनम में क्या थे पंडत?' राम मिलन ने कोई जवाब नहीं दिया तो किशोर का हौसला बढ़ गया। 'जरूर बन्दर रहे होगे।' हमने तुरन्त किशोर को आँख से इशारा किया। राम मिलन इस बात पर उखड़ गये ...'और तुम किशोरवा जरूर गधे रहे होगे या उल्लू या सुअर।' 'अरे रे... राममिलन भैया काहे नाराज हो रहे हो।' किशोर ने तुरन्त बात सम्भाली 'हम तो इसलिए कह रहे थे कि तुम इतनी हनुमान चालीसा पढ़ते हो, बन्दर माने

'खैर हमने गड्डे में फँसे उस बेचारे साँप को टांग टूंग कर बाहर निकाला, बाहर निकालते ही वह झाड़ियों की ओर भागा और गुम हो गया।' अशोक ने कहा... 'बेचारा...सोच रहा होगा, कहाँ इन जहरीले आदमियों के बीच फंस गया।'

डाँट खाने की उम्मीद थी लेकिन सर ने तो खुद ही हमें उबार लिया था।

फिर भी इतनी शर्म तो थी हममें कि उस दिन हमने दंगवाड़ा जाना स्थगित कर दिया और समय बिताने के लिए भाटीजी की भोजन शाला के इर्द-गिर्द मँडराते रहे। हम लोगों ने प्लानिंग की कि राम मिलन भैया को मस्का लगाया जाए और उनकी नाराजगी दूर की जाए। राम मिलन उसी दिन से हम लोगों से बेहद नाराज थे और हमारा तम्बू छोड़कर, उस तम्बू में उन्होंने अपनी स्थापना कर ली थी जहाँ उत्खनन के औजार फावड़ा, गैंती, घमेले इत्यादि रखे थे। वहीं उन्होंने प्लास्टिक की निवाड़ वाले एक पलंग का जुगाड़ भी कर लिया था और एक खम्भे पर हनुमान जी की तस्वीर लगा ली थी। भैया के तम्बू में जब हम लोग पहुँचे तब वे मंकी कैप लगाये हनुमान चालीसा का पाठ करने में व्यस्त थे। हम लोगों के तम्बू में प्रवेश करते ही उन्होंने अपना पाठ बन्द कर दिया और खीझते हुए कहा 'पता नहीं पिछले जनम में कउन से पाप किये थे जौने के लाने

आखिर हनुमान जी के वंशज ही हुए ना? बन्दर होना कौनों खराब बात है का? हम सब के पूर्वज भी तो बन्दर थे।' हनुमान जी का नाम सुनकर राम मिलन थोड़े नर्म हुए और हँसने लगे। मैंने सोचा अब बात कुछ सम्भाली जाए और एक फार्मूला छोड़ ही दिया जाए सो कहा 'भाई सही तो यह है कि मनुष्य का कोई अगला या पिछला जन्म नहीं होता। कोशिकाओं से यह शरीर बनता है और कोशिकाओं के मरने के साथ ही मर जाता है। न उसमें कोई जीव होता है न कोई आत्मा, न कोई दबी छुपी इच्छा शेष रहती है न कोई पाप पुण्य बचा रहता है। यह जो जीवन है बस एक बार का है।'

'सही कह रहे हो' रवीन्द्र ने कहा 'भूत प्रेत होते तो क्या वे हमारी मदद को नहीं आते? आखिर हम उन्हीं का अतीत तो खोज रहे हैं। रात भर में वे ट्रेंच खोद देते, सुबह हम अवशेष बटोर लेते। हमें इतनी मेहनत तो ना करनी पड़ती।'

□

गोलियों से गाँधी मर नहीं सकते

मुद्दा

रामस्वरूप मन्त्री

वे गाँधी का नाम तो लेते हैं, मगर मन्दिर गोडसे का बनाते हैं। न मूर्तियों से गोडसे जिन्दा होंगे, न गोलियों से गाँधी मर सकते हैं। राम और गीता जैसे प्रतीकों को उन्होंने साम्प्रदायिक ताकतों की जकड़ से बचाए रखा, उन्हें नये और मानवीय अर्थ दिए। उनका भगवान छुआछूत में भरोसा नहीं करता था, बल्कि इस पर भरोसा करने वालों को भूकम्प की शक्ति में दण्ड देता था। इस धार्मिकता के आगे धर्म के नाम पर पलने वाली और राष्ट्र के नाम पर दंगे करने वाली साम्प्रदायिकता खुद को कुण्ठित पाती थी। गोडसे इस कुण्ठा का प्रतीक पुरुष था।



लेखक वरिष्ठ पत्रकार हैं।
+919425902303
ramswaroopmantri@gmail.com



नाथूराम गोडसे पर फिर से बहस हो रही है। पहले फिल्म अभिनेता कमल हासन ने उसे आजाद भारत का पहला आतंकवादी बताया। फिर प्रज्ञा ठाकुर ने नाथूराम गोडसे को देशभक्त बताया। उनका कहना है कि गोडसे को आतंकी कहने वालों को अपने गिरेबां में झांकना चाहिए। यह सब करते हुए ये लोग कुछ ऐसी मुद्रा अपनाए हुए हैं जैसे गोडसे पर बात करना कोई क्रान्तिकारी काम हो।

यह बहस नयी नहीं है। लेकिन जो नया है वह यह कि पिछले कुछ दिनों से नाथूराम गोडसे के नाम का जयकारा खुले तौर पर लगाया जाने लगा है, सोशल मीडिया पर प्रतिक्रिया देते हुए भी और असल जिन्दगी में बात करते हुए भी। लेकिन ऐसा करना हमारे लिए कितना हितकर है? सचाई यह है कि 30 जनवरी 1948 को महात्मा गाँधी की हत्या के बाद से ही गोडसे कभी चर्चा से बाहर नहीं हुआ। उसके पक्ष में किताब और लेख लिखे गये। मराठी में 'मी नाथूराम गोडसे बोलतोय' नामक नाटक लिखा और खेला गया। कई फिल्मों में गोडसे के चरित्र को तेजस्वी रूप

में पेश किया गया। गोडसे के बारे में बात करना या लिखना या उसके नाम पर चुनाव प्रचार करना, कुछ भी भारत में प्रतिबन्धित नहीं है। इन संगठनों का कहना है कि काँग्रेस ने हमेशा नाथूराम को एक खलनायक के रूप में पेश किया लेकिन वे गोडसे को गाँधी के बरक्स नये नायक के रूप में पेश करना चाहते हैं। लेकिन इन संगठनों को जरा भी अहसास नहीं है कि गोडसे को महिमामंडित करके वे किसी विचार को नहीं, सिर्फ एक ऐसे शख्स को स्थापित कर रहे हैं, जिसने भारत में राजनीतिक हत्याओं की शुरुआत की थी।

गाँधी की हत्या इसलिए हुई कि धर्म का नाम लेने वाली साम्प्रदायिकता उनसे डरती थी। भारत-माता की जड़ मूर्ति बनाने वाली, राष्ट्रवाद को साम्प्रदायिक पहचान के आधार पर बाँटने वाली विचारधारा उनसे परेशान रहती थी। गाँधी धर्म के कर्मकाण्ड की अवहेलना करते हुए उसका मर्म खोज लाते थे और कुछ इस तरह कि धर्म भी सध जाता था, मर्म भी सध जाता था और वह राजनीति भी सध जाती थी जो एक नया देश और नया समाज बना सकती थी।

गाँधी अपनी धार्मिकता को लेकर हमेशा निष्कंप, अपने हिन्दुत्व को लेकर हमेशा असन्दिग्ध रहे। राम और गीता जैसे प्रतीकों को उन्होंने साम्प्रदायिक ताकतों की जकड़ से बचाए रखा, उन्हें नये और मानवीय अर्थ दिये। उनका भगवान छुआछूत में भरोसा नहीं करता था, बल्कि इस पर भरोसा करने वालों को भूकम्प की शक्ल में दण्ड देता था। इस धार्मिकता के आगे धर्म के नाम पर चलने वाली और राष्ट्र के नाम पर दंगे करने वाली साम्प्रदायिकता खुद को कुण्ठित पाती थी। गोडसे इस कुण्ठा का प्रतीक पुरुष था, जिसने धर्मनिरपेक्ष नेहरू या साम्प्रदायिक जिन्ना को नहीं, धार्मिक गाँधी को गोली मारी।

लेकिन मरने के बाद भी गाँधी मरे नहीं। आम तौर पर यह एक जड़ वाक्य है जो हर विचार के समर्थन में बोला जाता है। लेकिन ध्यान से देखें तो आज की दुनिया सबसे ज्यादा तत्त्व गाँधी से ग्रहण कर रही है। वे जितने पारम्परिक थे, उससे ज्यादा उत्तर आधुनिक साबित हो रहे हैं। वे हमारी सदी के तर्कवाद के विरुद्ध आस्था का स्वर रचते हैं। हमारे समय के सबसे बड़े मुद्दे जैसे उनकी विचारधारा की कोख में पल कर निकले हैं। मानवाधिकार का मुद्दा हो, सांस्कृतिक बहुलता का प्रश्न हो या फिर पर्यावरण का— यह सब जैसे गाँधी के चरखे से, उनके बनाए सूत से बन्धे हुए हैं।

गाँधी को याद करते हुए यह बात भुलाई नहीं जा सकती कि दरअसल यह जीवन-दृष्टि है— जीवन को देखने का नजरिया— जो किसी को गोडसे और किसी को गाँधी बनाता है। जीवन में फाँक तब पैदा होती है जब हम गाँधी की तरह होना चाहते हैं, लेकिन गोडसे की तरह हरकत करते हैं।

भारतीय समाज में यह विडम्बना आज कुछ ज्यादा ही विकट हो गयी है। गाँधी से हर कोई श्रद्धा रखता है, लेकिन गाँधी के मूल्यों की परवाह नहीं करता। दरअसल, गाँधी भी कई तरह के हैं। कुछ आसान गाँधी हैं, कुछ मुश्किल गाँधी हैं, कुछ बेहद मुश्किल गाँधी हैं और कुछ लगभग असम्भव लगते गाँधी हैं। आसान गाँधी के अनुसरण का एक रास्ता फिल्म 'लगे रहो मुन्नाभाई' ने दिखाया था— यह अहिंसक प्रतिरोध का रास्ता है। इस फिल्म के बाद फूल देकर विरोध करने का चलन बढ़ा। मोमबत्ती जलाकर

विरोध जताना इसी अहिंसक प्रतिरोध का एक और रूप है। राजनीतिक दलों के उपवास या धरने को भी इसी श्रेणी में रखा जा सकता है, हालांकि उन्होंने गाँधी के उपवास में आत्मशुद्धि का जो तत्त्व था, उसे भुला दिया है।

एक और आसान गाँधी हैं, जिनका वास्ता स्वच्छता, सहिष्णुता जैसे मूल्यों से है। कई एनजीओ अपने आचरण में तो नहीं, लेकिन सिद्धान्त में इस गाँधीवाद के रास्ते पर चलते दिखाई पड़ते हैं। हालांकि, गाँधी के सदाचार के कठोर नियम उनकी व्यावहारिक समाज सेवा के रास्ते में बाधक बनते जाते हैं। लेकिन ये सजावटी या दिखावटी गाँधी हैं। असली गाँधी धीरे-धीरे चुनौतियाँ कड़ी करते जाते हैं। सर्वधर्म समभाव की उनकी शर्त इस देश में बहुसंख्यकों की राजनीति करने वाली वैचारिकी के गले नहीं

देश और धर्म की बनी-बनाई सरणियों के पार जाते दिखते हैं, वे राष्ट्रवाद के उद्धृत आग्रह को आईना दिखाते हैं, वे अपने विख्यात गोप्रेम के बावजूद जबरन गोकशी रोकने के खिलाफ नजर आते हैं, वे अपने बुने कपड़ों, अपने उगाए अन्न और अपने बनाए औजारों पर इतना जोर देते हैं कि उनका ग्राम स्वराज लगभग असम्भव जान पड़ता है— आज के दुनियादार लोगों के लिए तो वे किसी और जमाने के पीछे छूटे हुए नेता भर हैं जिनकी मूर्ति पर माल्यार्पण कर देना, जिनकी तस्वीर दफ्तर में टाँग लेना काफी है।

लेकिन यह अव्यावहारिक गाँधी भी मौजूदा राजनीतिक प्रतिष्ठान को डराता है। गाँधी के आईने में उसकी अपनी वैचारिकी के विद्रूप दिखाई पड़ते हैं। गाँधी के सर्वधर्म समभाव के आगे उसकी उद्धृत बहुसंख्यक राजनीति म्लान

गाँधी को याद करते हुए यह बात भुलाई नहीं जा सकती कि दरअसल यह जीवन-दृष्टि है— जीवन को देखने का नजरिया— जो किसी को गोडसे और किसी को गाँधी बनाता है। जीवन में फाँक तब पैदा होती है जब हम गाँधी की तरह होना चाहते हैं, लेकिन गोडसे की तरह हरकत करते हैं।

उतरती। कई बार लगता है कि इसी सर्वधर्म समभाव की वजह से उनकी हत्या भी हुई। दिलचस्प यह है कि सर्वधर्म समभाव का यह बीज गाँधी कहीं बाहर से आयात नहीं करते, भारतीयता की मिट्टी से ही खोज निकालते हैं। वे सच्चे हिन्दू हैं, बल्कि इतने सच्चे कि हिन्दुत्व के भीतर जो गन्दगी है, उसको भी दूर करने को कटिबद्ध दिखते हैं।

पहले अछूतों का आन्दोलन चलाते हैं और फिर यह समझते हैं कि उद्धार की जरूरत अछूतों को नहीं, उन वर्गों को है जिन्होंने एक तबके को अछूत बना रखा है। यह लगता है कि गाँधी कुछ देर और जीते तो शायद इस सड़े-गले हिन्दुत्व की कुछ और सर्जरी कर डालते धीरे-धीरे गाँधी कुछ और कड़े होते जाते हैं। वे मनुष्यता की शर्तें निर्धारित करने लगते हैं—वे चाहते हैं कि हर आदमी अपनी जरूरत भर ले, उससे ज्यादा नहीं। वे युवराजों को झोंपड़ों में रहने की सलाह देते हैं, डॉक्टरों और वकीलों को उपभोग और झगड़े की जीवन शैली को बढ़ावा देने के लिए दुत्कारते हैं, वे

जान पड़ती है, गाँधी के स्वदेशी के आगे उसके स्वदेशी का खोखलापन उजागर हो जाता है, गाँधी जो देश बनाना चाहते हैं, उसके आगे इसका राष्ट्रवाद संकुचित और सीमित दिखाई पड़ता है। गाँधी के गोप्रेम के आगे इनकी गोरक्षा आपराधिक और हिंसक नजर आती है। और तो और, गाँधी जिस राम के उपासक हैं, उसके आगे भाजपा के जय श्री राम बहुत सारे लोगों को पराये लगने लगते हैं।

लेकिन इस गाँधी को वे उस तरह नहीं मार सकते जिस तरह गोडसे ने मारने की कोशिश की। इसलिए वे गाँधी का नाम तो लेते हैं, मगर मन्दिर गोडसे का बनाते हैं। गाँधी की, या किसी भी निर्दोष व्यक्ति की हत्या को अगर न्यायोचित ठहराया गया तो इससे भारतीय लोकतन्त्र पराजित होगा और देश में घोषित तालिबानीकरण की शुरुआत हो जाएगी। बेहतर होगा कि ये संगठन समय रहते इस बात को समझ लें, क्योंकि बाद में शायद उन्हें पछताने का भी समय नहीं मिले।

□

स्त्री विमर्श के प्रचलित मिथ

श्रीकाल

सुनीता गुप्ता

अब जब स्त्री आत्मनिर्भर हो रही है और बाहरी जगत में अपने पंख फैलाने को आतुर है तो वह उस परिवार नामक संस्था को लेकर असुरक्षा की भावना से ग्रसित है जिसके बूते पर वह उन्मुक्त रही है। यह उसकी सोच से बाहर की चीज है कि पैसा कमाने के अतिरिक्त परिवार के प्रति भी उसका कोई उत्तरदायित्व हो सकता है। सन्तति नाम तो उसका वहन करे पर त्याग स्त्री करे। इसलिए वह पूरे जी जान से, नाना विध तर्कों के द्वारा स्त्री विमर्श को खारिज करने में लगा है।



लेखिका प्राध्यापक और कथाकार हैं।
+919473242999
sunitag67@gmail.com



स्त्री मुक्ति के सवाल तबतक अधूरे रहेंगे, जबतक कि उसे उस पारम्परिक छवि से मुक्त न किया जाये जिसे लक्ष्मण रेखा की तरह उसके अस्तित्व के चतुर्दिक खींच दी गयी है। सन्दर्भ जब स्त्री मुक्ति का हो तो वह पितृसत्तात्मक मानसिकता जिसके मन में स्त्री की एक खास छवि प्रतिष्ठित है, कई प्रकार के सवालों से स्त्री मुक्ति को कीलित कर देना चाहता है। ऐसा नहीं कि ये वे लोग हैं जो अनिवार्यतः स्त्री के प्रति सम्मान नहीं रखते या स्त्रियों के प्रति वे संवेदनशील नहीं हैं—बल्कि इसके उलट अधिकतर ऐसे लोगों के जेहन में स्त्री के प्रति सम्मान का अतिरेक होता है। यह उसी का नतीजा होता है कि वे स्त्री को या तो देवी मानते हैं या दानवी। सम्मान के अतिरेक में उनका मानस यह मानने को तैयार ही नहीं होता कि स्त्रियाँ भी व्यक्ति हैं और उनकी भी कुछ कमजोरियाँ हो सकती हैं, वे भी गलतियाँ कर सकती हैं। ये स्त्री के प्रति मातृभाव से ग्रसित होते हैं। यह मातृभाव स्त्री से बिना किसी अपेक्षा के केवल प्रतिदान की उम्मीद रखता है। उनके लिए स्त्री त्याग, दया,

ममता, करुणा, सेवा आदि उदात्त भावों की प्रतिमूर्ति होती है। इनमें से एक तत्त्व की भी कमी उनकी नजर में स्त्री को गिरा देती है। इनकी उदारता की सीमा रेखा मध्यकाल में निर्धारित वे ही मानदण्ड होते हैं जिसके तहत कबीर ने लिखा होगा—“पतिव्रता मैली भली, काली कुचित कुरूप/पतिव्रता के रूप पर, वारिहिं कोटि सरूप”। क्या ही आश्चर्य है कि तेजी से बदलते सामाजिक परिदृश्य के बावजूद स्त्री के प्रति बहुसंख्यक समाज की इस मानसिकता में कोई बदलाव नहीं आया है।

दरअसल पुरुष ने सभ्यता के विकास क्रम में अपने लिए बाहर की दुनिया चुनी और स्त्री को घर की चारदीवारी में कैद कर दिया। स्त्री पर पारिवारिक दायित्व सौंपकर वह बाहर की दुनिया के लिए उन्मुक्त हो गया। इस प्रयास में बड़े कौशल से उसने धर्म और संस्कृति के उपादानों के द्वारा स्त्री का इसप्रकार अनुकूलन कर डाला कि पिंजड़े में बद्ध पक्षी की तरह वह उड़ना ही भूल गयी। इस अनुकूलन की प्रक्रिया में खुद को सायास ढालते हुए

वह अनायास ही उन गुणों से दूर होता चला गया जो पारिवारिक जीवन के लिए जरूरी होते हैं। नतीजा यह हुआ कि परिवार के लिए वह स्त्री पर निर्भर होता चला गया। अब जब स्त्री आत्मनिर्भर हो रही है और बाहरी जगत में अपने पंख फैलाने को आतुर है तो वह उस परिवार नामक संस्था को लेकर असुरक्षा की भावना से ग्रसित है जिसके बूते पर वह उन्मुक्त रहा है। यह उसकी सोच से बाहर की चीज है कि पैसा कमाने के अतिरिक्त परिवार के प्रति भी उसका कोई उत्तरदायित्व हो सकता है। सन्तति नाम तो उसका वहन करे पर त्याग स्त्री करे। इसलिए वह पूरे जी जान से, नानाविध तर्कों के द्वारा स्त्री विमर्श को खारिज करने में लगा है।

इस प्रयास में पहला तर्क तो यह है कि स्त्री ही स्त्री की दुश्मन होती है। वह यह तर्क इसप्रकार प्रस्तुत करता है मानो पुरुष तो सब एक दूसरे के मित्र ही होते हैं। यदि ऐसा ही होता तो विश्व को दो दो विनाशकारी विश्वयुद्धों से न गुजरना पड़ता। इतिहास साक्षी है कि किस प्रकार क्षुद्र स्वार्थों और अहंकारों के कारण अतीत से लेकर आज तक पुरुष युद्धरत रहा है और मानवता के जाने कितने संहार उसने कर डाले हैं और यह प्रक्रिया सभ्यता के इस मुकाम पर पहुँचने के बाद भी अनवरत जारी है। इस तर्क का एक मनोवैज्ञानिक पहलू यह भी है कि मनुष्य स्वाभाविक रूप से आत्मरतिग्रस्त होता है। यह आत्मरति उसे दूसरों के प्रति निर्मम बना देती है। यह पुरुष के लिए जितना सच है उतना ही स्त्री के लिए भी। व्यक्ति की प्रतिद्वन्द्विता अपने ही कार्यक्षेत्र में होती है। जब स्त्री की अपनी ही एक अलग दुनिया हो और उसका कार्यक्षेत्र घर तक ही सीमित हो तो उसका टकराव उसी क्षेत्र में और स्त्रियों के साथ ही नहीं होगा तो किससे होगा! हम अभी भी एक अर्द्धसामन्ती समाज में जी रहे हैं जहाँ अवसर मिलते ही कोई भी व्यक्ति दूसरे पर वर्चस्व स्थापित करने का कोई भी अवसर चूकना नहीं चाहता है। हमारे अन्दर के किसी कोने में छिपी हुई सामन्ती प्रवृत्तियाँ हमारी संवेदना को आच्छादित कर लेती हैं और हमें मानवीय नहीं रहने देतीं। अपने आप में परिपूर्ण व्यक्ति किसी दूसरे से आशंकित नहीं होता किन्तु जो

अपने अस्तित्व को दूसरों के माध्यम से पुष्टि चाहते हैं, वे सदा इस आशंका से भरे होते हैं कि कहीं दूसरे उनके हाथ से फिसल न जाएँ। इस प्रवृत्ति को हमारे कार्यस्थलों और सार्वजनिक जीवन में महसूस किया जा सकता है। हमारी कार्यसंस्कृति का अभी तक लोकतन्त्रीकरण नहीं हो पाया है। इस तर्ज पर कहा जा सकता है कि हमारे समाज में बाँस और सास में कोई अन्तर नहीं है। बेचारी सासों को नाहक ही बदनाम किया जाता है। यहाँ तो एक और चीज आ जुड़ती है। स्त्रियों की पुरुषों पर निर्भरता की स्थिति में वे अपनी सत्ता और पहचान के लिए एक दूसरे की प्रतिद्वन्द्वी बन जाती हैं। जिन घरों में स्त्रियाँ आत्मनिर्भर हैं, वहाँ यह स्थिति कम देखने को मिलती है।

इसी प्रकार का एक और आरोप लगाया जा सकता है पुत्र प्राप्ति की कामना और दहेज का और कहा जाता है कि इसके लिए स्त्रियाँ ही जिम्मेदार हैं। किन्तु ऐसा करते हुए यह भुला दिया जाता है कि संस्कृति पर अपने वर्चस्व तथा शिक्षा से स्त्रियों को बेदखल कर जिस प्रकार पितृसत्ता ने स्त्री का अनुकूलन किया, उसके तहत स्त्रियों के मानसिक संस्कार भी पितृसत्ता के साँचे में ही ढलें, ऐसे में अनचाहे ही वह उन परम्पराओं का वहन करती रही जो स्वयं उसके विरुद्ध जाती थीं। बल्कि उसके अस्तित्व को इन परम्पराओं से इस प्रकार नाथ दिया गया कि उससे बाहर निकलना उसके लिए मुश्किल हो गया। उसने पाया कि जिस परिवार पर वह अवलम्बित है उसकी परम्परा पुत्र से ही चलती है, उसके मोक्ष का माध्यम भी पुत्र ही है और देखा कि पुत्र सन्तान को जन्म देना ही उसके मान की वृद्धि करता है। विज्ञान भले इस सत्य की पुष्टि करता रहा हो कि लिंग के निर्धारण के लिए पुरुष का जीन जिम्मेदार है पर व्यवहार में इसके लिए स्त्री को जवाबदेह मानकर उसे बेदखल कर दूसरे विवाह की परम्परा भी मान्य रही है। जब सम्पत्ति पर अधिकार पुरुष का हो, निर्णय का हक उसने अपने हाथों में ले रखा हो तब यह कहा जाना कि दहेज के लिए जिम्मेदार स्त्री ही है, एकतरफा सच ही हो सकता है। अधिकतर तो उसका इस्तेमाल पुरुष के हाथों के उपकरण की तरह होता है। हालाँकि इस

आधार पर ऐसी स्थिति को न्यायसंगत नहीं ठहराया जा सकता। बढ़ती हुई जागरूकता और शिक्षा के प्रसार के साथ ये चीजें तेजी से टूट रही हैं—टूटनी भी चाहिये।

पूरी दुनिया छल और धोखे से भरी पड़ी है। छल पुरुषों ने स्त्रियों के साथ भी कम नहीं किया है। पर स्त्री के प्रति देवत्व की भावना से भरे होने के कारण स्त्री द्वारा किया गया छल उसे बर्दाश्त नहीं होता, वह इतना अधिक आहत कर जाता है कि सम्पूर्ण नारी जाति पर ही लांक्षण लगाने लगता है। उसे स्त्री का देवी के पद से जरा-सा भी स्खलित होना सहन नहीं होता और वह तत्क्षण उसे सम्पूर्ण मानवीय गरिमा से वंचित कर देता है।

एक स्त्री जब अपनी आकांक्षाओं की पूर्ति के लिए अप्रत्यक्ष माध्यम या छल का रास्ता अपनाती है तो उसे त्रिया चरित्र कहते हैं। इसे स्त्री का दुर्गुण मानते समय इस पर विचार करने की जरूरत नहीं महसूस की जाती कि आखिर एक स्त्री को ऐसा करने की जरूरत पड़ती क्यों है? जब स्त्री की व्यक्ति के रूप में प्रतिष्ठा ही न हो, जब उसकी बात सुनी ही न जाए, निर्णय में उसकी भागीदारी न हो, उसकी इच्छाओं को तरजीह ही न दी जाए, वहाँ अपनी बात रखने के लिए कौशल या कूटनीति का सहारा लेना उसकी विवशता हो जाती है।

आज यह सवाल भी उठाया जा रहा है कि स्त्री विमर्श की अब आवश्यकता नहीं रही। यह सच है कि चीजें तेजी से बदल रही हैं, पर एक बड़ी आबादी के लिए मंजिल अभी भी काफी दूर है। साठ प्रतिशत काम महिलाओं द्वारा करने के बावजूद जब मात्र एक प्रतिशत सम्पत्ति पर ही उनका हक हो, जनसंख्या में स्त्री का अनुपात एक हजार पुरुषों पर मात्र 940 हो, लोकसभा में स्त्रियों की उपस्थिति मात्र 12 प्रतिशत ही हो, कन्या भ्रूण हत्या तथा स्त्रियों के विरुद्ध घरेलू हिंसा तथा यौन हिंसा की घटनाएँ थम नहीं रही हों, प्राथमिक और उच्च शिक्षा में लड़कियों की पर्याप्त भागीदारी न हो—तबतक यह कैसे कहा जा सकता है कि स्त्री विमर्श अब बेमानी हो गया है? ये सारी चीजें बताती हैं कि असमानता की दीवारें अभी टूटी नहीं हैं।

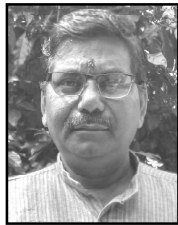
□

लोकतन्त्र पर प्रश्नचिन्ह

लोकनीति

विवेकानन्द माथने

सरकार की जिम्मेदारी होती है कि वह खुद समस्याओं को समझे और जनता पर किसी प्रकार का अन्याय ना हो ऐसी व्यवस्था प्रदान करे। लेकिन दुर्भाग्य से सरकारें लोगों की बात सुनती ही नहीं है। जब लोग आन्दोलन के लिए मजबूर हो जाते हैं तब वह कारपोरेट्स के पक्ष में खड़ी होकर पुलिस और सैनिकों द्वारा तथाकथित माई-बाप जनता पर लाठियाँ और बन्दूक की गोलियाँ चलाकर खून बहाने में थोड़ा भी संकोच नहीं करती। इस तरह सत्तापक्ष कारपोरेट्स के नमक की कीमत अदा करता है।



लेखक आजादी बचाओ आन्दोलन एवं किसान आन्दोलन में सक्रिय भागीदार हैं।
+919422194996
vivekanand.amt@gmail.com



किसी भी तन्त्र को तभी उपयुक्त माना जा सकता है जब वह उस उद्देश्य के नजदीक पहुँचाता है जिसके लिए वह बना है। आजादी के 70 साल बाद देश में आज लोकतन्त्र में 'लोक' के लिए ही कोई जगह नहीं है। वह पूरी तरह धनशक्ति और हिंसाशक्ति पर आधारित तन्त्र बन गया है। ऐसे में जिस उद्देश्य से इसकी स्थापना हुई, उसकी प्राप्ति इस लोकतन्त्र में सम्भव नहीं है। सच तो यह है कि ऐसे तन्त्र को लोकतन्त्र भी नहीं कहा जा सकता जिसमें पाँच साल में एक बार वोट देकर प्रतिनिधि चुनने के अधिकार के अलावा निर्णय प्रक्रिया में 'लोक' की किसी प्रकार की कोई भागीदारी ना हो। निस्सन्देह राजतन्त्र से लोकतन्त्र इस मायने में तो बेहतर है कि इसमें जनता को अपना राजा चुनने का अधिकार है और राजा अगर ठीक से काम न कर रहा हो तो जनता उसे पाँच साल बाद बदल भी सकती है। लेकिन जनता के वोटों से राजा या प्रधानमन्त्री चुनने के बाद यह लोकतन्त्र भी प्रधानमन्त्री की मर्जी से ही चलता है। जैसा प्रधानमन्त्री होता है, वैसा ही जनता को भुगतना पड़ता है।

राजतन्त्र में अल्पमत बहुमत पर शासन करता था। लोकतन्त्र में यह माना गया है कि

लोकतन्त्र बहुमत के आधार पर चलता है। इसलिए बहुमत अल्पमत पर शासन करेगा। लोकतन्त्र में बहुमत की बात ही सही मानी जाती है। चाहे लोक-प्रतिनिधि का चुनाव हो या फिर किसी कानून के लिए बिल पारित करना हो, बहुमत के आधार पर ही निर्णय किया जाता है। आज के लोकतन्त्र में सत्य इसलिए सत्य नहीं होता कि वह सत्य है बल्कि वह इस आधार पर तय होता है कि ज्यादा संख्या में लोग क्या कहते हैं। लेकिन यह समझना होगा कि सत्य अल्पमतया बहुमत के आधार पर तय होनेवाली चीज नहीं है।

भले ही लोकतन्त्र बहुमत के आधार पर चलने का दावा करता है लेकिन सच्चाई तो यही है कि प्रत्यक्ष में लोकतन्त्र में भी बहुमत के नाम पर अल्पमत का या तानाशाह का ही राज चलता है। बहुमत के सिद्धान्त के अनुसार जिस पार्टी को कुल मतदाताओं में से 51 प्रतिशत वोट मिलेंगे उसे सत्ता प्राप्त होनी चाहिए। लेकिन चुनाव में कुल मतदाताओं में से 20 से 25 प्रतिशत मत प्राप्त करने वालों को भी सत्ता प्राप्त होती है। जब प्रधानमन्त्री या छोटा समूह अपनी मनमर्जी से निर्णय करके या पार्टियाँ व्हिप जारी करके लोक प्रतिनिधियों के

स्व-निर्णय का अधिकार भी छीन लेती है तब अल्पमत की जगह तानाशाही ले लेती है और लोकतन्त्र तानाशाह का राज बन जाता है।

2019 के संसदीय चुनाव के उदाहरण से यह आसानी से स्पष्ट किया जा सकता है। भारत में कुल 90 करोड़ मतदाताओं में से 67 प्रतिशत लोगों ने अर्थात् 60.36 करोड़ मतदाताओं ने मतदान किया और मतदान करने वालों में से जिस पार्टी को 37.4 प्रतिशत वोट यानी 22.6 करोड़ मतदाताओं के वोट मिले, उसे सत्ता मिली। इसका अर्थ यह है कि कुल 90 करोड़ मतदाताओं में से केवल 25 प्रतिशत मतदाताओं के वोट प्राप्त करने वाली पार्टी सत्ता में पहुँची है। अर्थात् सत्ता का फैसला बहुमत के आधार पर नहीं अल्पमत के आधार पर ही हुआ है। इसे 130 करोड़ जनता का आशीर्वाद नहीं माना जा सकता। इसी तरह एक बार प्रतिनिधि चुनने के बाद पाँच साल के लिए उसका मत निर्वाचित प्रतिनिधि के पास गिरवी नहीं हो जाता। चुनाव में मतदाताओं के द्वारा दिया गया मत लोक-सेवकों को मनमाने तरीके से काम करने की अनुमति नहीं है बल्कि लोकमत का आदर करके जन-सहमति से राजपाट चलाने के लिए दी गयी अनुमति है।

चुनाव में पाँच साल में एक बार मिलने वाले अवसर पर मतदाताओं को सत्य-असत्य के आधार पर विवेक का उपयोग करके मत देना अपेक्षित है। लेकिन लोग अपना मत मीडिया के आधार पर ही बनाते हैं। जब आप किसी व्यक्ति से प्रश्न पूछते हैं तब वह वही तर्क पेश करता है जो मीडिया द्वारा उसके दिमाग में डाला गया है। कारपोरेट घरानों द्वारा नियन्त्रित प्रचार माध्यम उस पर इस तरह से विचार थोपते हैं कि मतदाताओं को अपने जीवन से जुड़े वास्तविक मुद्दों पर विवेक का उपयोग कर मत देने का अवसर ही नहीं देते। इसलिये मतदाता का वोट भी उसका खुद का मत नहीं होता बल्कि वह कारपोरेट मिडिया द्वारा योजनापूर्वक बनाया गया मत होता है।

लोकतन्त्र में प्रधानमंत्री की जबाबदेही जनता के प्रति होनी चाहिए लेकिन ऐसा होता नहीं। क्योंकि चुनाव में पार्टियों की भागीदारी के कारण प्रधानमंत्री कौन होगा यह पार्टियाँ तय करती हैं। जिसके कारण प्रधानमंत्री की जबाबदेही जनता के प्रति न रहकर पार्टियों के प्रति हो जाती है और पार्टियाँ जानती हैं कि चुनाव धनशक्ति और हिंसाशक्ति के आधार पर जीते जाते हैं। चुनाव जीतने के लिये पार्टियों को जनता के साथ की नहीं बल्कि कारपोरेट

घरानों के धन की आवश्यकता होती है। वे जानते हैं कि कारपोरेट घरानों को लाभ पहुँचाकर उनके द्वारा संचालित मिडिया के माध्यम से जनमत को आसानी से पार्टी के पक्ष में बनाया जा सकता है। इसलिए पार्टियों की जबाबदेही धन देनेवाले धनपतियों के प्रति होती है।

आज की चुनाव व्यवस्था में अपने मूल्यां के साथ समझौता न करने के कारण समाज के विचारवान और श्रेष्ठ पुरुषार्थी व्यक्तियों के लिये चुनाव जीतने की सम्भावना बहुत कम है क्योंकि एक तो वह आत्मस्तुति, परनिन्दा और मिथ्या भाषण नहीं कर सकते और दूसरा वह चुनावी खर्च के लिये पूँजीपतियों के साथ समझौता नहीं कर सकते। झूठ और बुराई से समझौता न करने के कारण चुनाव में अपने समय के श्रेष्ठ और पुरुषार्थी लोग चुनाव नहीं जीत सकते और इसी कारण आज की व्यवस्था में भ्रष्ट, अपराधी और पाखण्डी लोग ही लोक-प्रतिनिधि बनकर नेता बन बैठे हैं। देश की आधी से ज्यादा गरीब आबादी चुनाव लड़ने से इसलिए वंचित रह जाती है क्योंकि वह चुनाव में खर्च करने की क्षमता नहीं रखते। आज की चुनावी व्यवस्था में आर्थिक दृष्टि से कमजोर नागरिकों से चुनाव लड़ने का उनका अधिकार सुनियोजित तरीके से छीना गया है। यह भारतीय संविधान के विरुद्ध है। 17 वीं लोकसभा में चुने गये 43 प्रतिशत सांसद यानी लगभग आधे सांसदों पर गम्भीर अपराधिक मामले दर्ज हैं और 88 प्रतिशत प्रतिनिधि करोड़पति हैं।

चुनाव आयोग द्वारा भले ही लोकसभा चुनाव के लिये 70 लाख रुपये खर्च की मर्यादा रखी गयी हो, लेकिन प्रमुख पार्टी का प्रत्याशी कम से कम 20-25 करोड़ रुपये खर्च करता है। इसके अलावा पार्टियाँ भी बड़ी राशि खर्च करती हैं। एक अध्ययन के अनुसार इस चुनाव में लगभग 50 हजार करोड़ रुपये खर्च हुआ है। इतनी बड़ी रकम प्रत्याशी या पार्टी अपनी तरफ से खर्च नहीं कर सकती। यह राशि या तो भ्रष्टाचार से अर्जित होती है या फिर पूँजीपतियों से इस शर्त पर ली जाती है कि चुनाव के बाद वह उनको लाभ पहुँचाएँगे। तभी तो कारपोरेट घराने अपने मनमाफिक नीतियाँ बनाते हैं और सरकार द्वारा उसे लागू करवा के चुनाव में दी गयी मदद से कई गुणा अधिक कीमत वसूलते हैं। अब तो कौन सी पार्टी सत्ता में आएगी और कौन प्रधानमंत्री बनेगा यह भी कारपोरेट घराने तय करते हैं और उसी पार्टी को ज्यादा चन्दा दिया जाता है। इसलिए प्रधानमंत्री

को भी अब जनता का यह डर नहीं रहा कि अगर वह जनहित के खिलाफ निर्णय लेता है तो उसे फिर मौका नहीं मिलेगा। सरकार द्वारा कारपोरेट्स को लाभ पहुँचाने के लिये बनी जनविरोधी नीतियों से इस बात को आसानी से समझा जा सकता है। सच तो यही है कि देश में आज लोकतन्त्र कारपोरेट तन्त्र बन चुका है। कारपोरेट तन्त्र अर्थात् 'कारपोरेट्स द्वारा, कारपोरेट्स के लिए, कारपोरेट्स को लाभ पहुँचानेवालों लोगों के द्वारा चलाया गया तन्त्र।'

कारपोरेट्स और जनता के हित एक दूसरे के विरुद्ध होने के कारण आज देश में हर जगह कारपोरेट्स के विरुद्ध जनता का संघर्ष है। ऐसी स्थिति में सरकार की जिम्मेदारी होती है कि वह खुद समस्याओं को समझे और जनता पर किसी प्रकार का अन्याय ना हो ऐसी व्यवस्था प्रदान करे। लेकिन दुर्भाग्य से सरकारें लोगों की बात सुनती ही नहीं हैं। जब लोग आन्दोलन के लिये मजबूर हो जाते हैं तब वह कारपोरेट्स के पक्ष में खड़ी होकर पुलिस और सैनिकों द्वारा तथाकथित माई-बाप जनता पर लाठियाँ और बन्दूक की गोलियाँ चलाकर खून बहाने में थोड़ा भी संकोच नहीं करती। इस तरह सत्तापक्ष कारपोरेट्स के नमक की कीमत अदा करता है।

चुनाव के नाम पर समाज, गाँव और देश को जाति, सम्प्रदाय, धर्म, भाषा और क्षेत्रीयता के आधार पर बाँटने का काम किया जाता है। चुनाव में पहले जाति, सम्प्रदाय, धर्म, भाषा और क्षेत्रीयता के आधार पर चुने जाने की सम्भावनाओं को तलाश कर प्रत्याशी तय किया जाता है। फिर चुनाव जीतने के लिये विद्वेष और घृणा फैला कर समाज को आपस में बाँटने का काम किया जाता है। साथ ही संकुचित राष्ट्रवाद के नाम पर देश की जनता के मन में पड़ोसी देशों के बारे में शत्रुत्व भाव पैदा किया जाता है। लोगों को आपस में लड़ाकर कारपोरेट्स देश को आराम से लूटते रहते हैं।

भारत जैसे महान देश को इस कारपोरेट तन्त्र से मुक्ति के लिए, समाज का बँटवारा रोकने के लिए, मानवतावादी मूल्यां की रक्षा के लिए, संविधान की उद्देशिका न्याय, स्वातन्त्र्य, समता और बन्धुता को प्राप्त करने के लिए, दुनिया को जोड़ने के महान उद्देश्य के लिए आज एक नये तन्त्र के बारे में सोचने की आवश्यकता है जिसमें लोक सर्वोपरि हो और भारत की आत्मा की आवाज जिन्दा रह सके।

□

विश्व जल दिवस

झारखण्ड के गरगा नदी की दुर्दशा को देखते हुए पर्यावरणिक संस्था वर्ल्ड ग्रीन लाइन ने स्थानीय लोगों के साथ नदी को स्वच्छ बनाने के लिए 22 मार्च 2018 'विश्व जल दिवस' के दिन 'स्वच्छ गरगा अभियान' के नाम से इसकी सफाई का अभियान शुरू किया जो तब से हर सप्ताह शनिवार व रविवार को सुबह 2 घण्टा चल रहा है।

बोकारो जिला की अनेक छोटी नदियों में से एक है गरगा नदी, जो सिर्फ 50-55 कि.मी. का सफर तय कर के दमोदर नद में मिल जाती है। एक छोटी नदी होने के बाद भी औद्योगिकरण के प्रहार और शहरीकरण की मार से बुरी तरह से प्रदूषित इस नदी के अस्तित्व पर संकट खड़ा हो गया है।

गरगा बड़े नाले में बदल जाने के बाद भी लोगों को सांस्कृतिक व पारम्परिक रूप से अपने साथ जोड़कर रखने में सक्षम है। गरगा से जुड़ी मूर्ति व पूजा सामग्रियों के विसर्जन, दशकर्म व महापर्व छठ आदि प्रमुख गतिविधियाँ हैं। चारों ओर पानी के किल्लत से कुछ लोग प्रदूषण के वावजूद गरगा में नालियों से बहकर आते हुए पानी में नहाना तथा बर्तन साफ करने जैसा नित्य कर्म करने के लिए मजबूर हैं।

गरगा नदी की दुर्दशा पर इस नदी के किनारे बसे लोगों से संवाद करने के लिए वर्ल्ड ग्रीन लाइन एवं सहयोगी संस्थाओं—'नदी बचाओ जीवन बचाओ' कोलकाता, एनएपीएम झारखण्ड, छोटानागपुर किसान विकास संघ, धारा द्वारा एक साइकिल संवाद यात्रा गत 29-30 मई को की थी। गरगा नदी के उद्गम स्थल कलन्दी बान्ध कसमार से शुरू कर इसके संगम स्थल तेलमोचो ब्रिज, पुपुनकी के पास इसका समापन किया गया।

यात्रा क्रम में नदी में अवैध बालू खनन, नदी के अन्दर पानी को रोक कर इसकी मिट्टी बालू का इस्तेमाल करके ईट भट्टा

के चलने, नदी के अन्दर शौचालय का सेप्टिक टैंक बनाने, नालियों को नदी में छोड़ने जैसी गतिविधियों का पता चला।

यात्रा समाप्ति के अगले दिन 31 मई को बुद्धिजीवियों की एक संगोष्ठी में इन्हीं बातों पर विचार-विमर्श किया गया। नदी के अस्तित्व को लौटाने के लिए इस आन्दोलन को रफ्तार देने की जरूरत समझते हुए इसके लिए इन बिन्दुओं पर सहमति बनी—

1. नदी किनारे गाँव व शहर में नदी सभाएँ बना कर नदी के बारे में जागरूकता पैदा की जाएगी।
2. विद्यालयों व महाविद्यालयों में विद्यार्थियों को नदी की अहमियत व इसे बचाने की जरूरत के प्रति जागरूक किया जाएगा।
3. धरना प्रदर्शन व अनशन के माध्यम से सरकार का ध्यान आकृष्ट किया जाएगा।

'बरगी का पुनर्वास करो, फिर चुटका की बात करो'

चुटका परमाणु विरोधी संघर्ष समिति की बैठक का आयोजन 2 जून 2019 चुटका गाँव, नारायणगंज, मण्डला में किया गया, जिसमें जबलपुर से राजकुमार सिन्हा और भोपाल से विजय कुमार शामिल हुए।

बैठक में चुनाव के उपरान्त की परिस्थितियों पर विस्तारपूर्वक चर्चा की गयी, जिसमें साथियों ने माना कि केन्द्र की भाजपा सरकार देश भर में परमाणु संयन्त्र लगाने की दिशा में तेजी से आगे बढ़ेगी। जनसंघर्ष के चलते अब तक रुका हुआ चुटका परमाणु परियोजना का काम भी केन्द्र और राज्य सरकार बलपूर्वक तेजी से आगे ले जाने का प्रयास करेंगी। इस बीच सभी ने यह माना कि संघर्ष समिति को भी विरोध की अपनी तैयारी तेज करनी चाहिए।

चर्चा के दौरान संघर्ष समिति के साथियों ने अपनी सांगठनिक क्षमता की समीक्षा और मूल्यांकन के बाद निम्नलिखित निर्णय लिए—

1. चुटका परमाणु विरोधी संघर्ष समिति को पुनर्संगठित करने के लिए अभियान चलाया जाएगा। संघर्ष समिति के नेतृत्वकारी साथी आने वाले समय में संगठन को मजबूत करने के लिए विस्थापित और प्रभावित गाँवों का दौरा करेंगे। उन गाँवों में बैठकों का आयोजन

कर गाँव स्तरीय कमेटियों का गठन किया जाएगा।

2. बैठक में युवाओं की भूमिका पर गम्भीरता से चर्चा की गयी। सभी साथियों ने यह माना कि बिना युवाओं को जोड़े इस आन्दोलन को आगे नहीं ले जाया जा सकता। इसके लिये हमें विशेष प्रयास करने की आवश्यकता है। इस आधार पर यह निर्णय लिया गया कि आगामी 25-26 अगस्त को परियोजना से विस्थापित होने वाले कुंडा गाँव के सामुदायिक भवन में दो दिवसीय युवा नेतृत्व शाला का आयोजन किया जाएगा। कार्यशाला में विस्थापित गाँव के अलावा प्रभावित गाँव के युवा साथी शामिल होंगे जिनका पूर्वचयन किया जाएगा। संघर्ष में युवाओं को शामिल करने के लिए ठोस प्रयास किये जाने पर सभी ने जोर दिया।

3. बैठक में संघर्ष समिति के साथियों द्वारा मध्य प्रदेश सरकार के ऊर्जा मन्त्री, नर्मदा विकास प्राधिकरण के मन्त्री, आदिमजाति कल्याण मन्त्री, प्रदेश के समस्त आदिवासी विधायकों और प्रदेश के मुख्यमन्त्री से मिलकर उन्हें चुटका परमाणु परियोजना रद्द करने सम्बन्धी माँगपत्र सौंपने का निर्णय लिया गया।

4. बैठक में संघर्ष समिति के नेतृत्वकारी साथियों द्वारा भोपाल में एक पत्रकार वार्ता का आयोजन करने और चुटका परमाणु विरोधी संघर्ष को समर्थन देने वाले भोपाल के साथियों की एक बैठक भोपाल में आयोजित करने का निर्णय लिया गया।

5. बैठक में बरगीबान्ध विस्थापितों और प्रभावितों के मुद्दों को भी उठाने का निर्णय लिया गया। 'बरगी का पुनर्वास करो, फिर चुटका की बात करो' के नारे के आधार पर आन्दोलन को मजबूत करने के बारे में सहमति बनी।

बैलाडीला स्थित 'नन्दराज पहाड़' को बचाए सरकार

छत्तीसगढ़ के दन्तेवाड़ा, सुकमा एवं बीजापुर जिले के 200 गाँवों के आदिवासियों ने बैलाडीला के लौह अयस्क खनन क्षेत्र में अवस्थित नन्दराज पहाड़ में खनन के विरोध में अनिश्चितकालीन आन्दोलन शुरू किया है। नन्दराज पहाड़ इन आदिवासियों की धार्मिक

मान्यताओं से जुड़ा हुआ है। इस डर से कि यहाँ खनन हुआ तो यह धार्मिक क्षेत्र नष्ट हो जाएगा, इन्होंने पूरे पहाड़ को ही घेर लिया है। इनकी माँग है कि पहाड़ पर खनन न किया जाए। अनुमान है कि इस क्षेत्र में लगभग 35 करोड़ टन उच्च गुणवत्ता वाले लौह अयस्क का भण्डार है।

छत्तीसगढ़ पहाड़ बचाओ अभियान के गौतम बन्द्योपाध्याय ने कहा कि केन्द्र और राज्य सरकार को मिलकर आन्दोलनरत आदिवासियों के लोकतान्त्रिक अभिव्यक्ति का सम्मान करते हुए एनएमडीसी के खदान-13 को रद्द करना चाहिए। वहाँ अडानी ही नहीं किसी को भी खनन की अनुमति नहीं दी जानी चाहिए क्योंकि वह पहाड़ आदिवासियों के लिए सिर्फ आस्था का प्रतीक नहीं बल्कि उनके समूचे जीवन से जुड़ा है। उन्होंने कहा कि ओडिशा के नियमगिरि पहाड़ की तरह इस पहाड़ को बचाने के लिए भी सरकार को कदम उठाने चाहिए। उन्होंने कहा कि छत्तीसगढ़ जैसे प्रदेश में 27 प्रतिशत भू-क्षेत्र पहाड़ी है। ऐसे में छत्तीसगढ़ 'पहाड़ बचाओ अभियान' की माँग है कि पहाड़ से खनिज उत्खनन एवं पर्यावरणीय परिस्थिति का वैज्ञानिक समीक्षा कर एक समग्र पहाड़ नीति बनाने का प्रयास किया जाना चाहिए। 'पहाड़ बचाओ' की ओर से माँग है कि राज्य सरकार तत्काल केन्द्र सरकार से आदिवासियों की आकांक्षा और आस्था को ध्यान रखते हुए एनएमडीसी में खदान-13 को रद्द करने का आग्रह करें। अभियान की यह भी माँग है कि वह क्षेत्र पेसा कानून के अधीन है लिहाजा वहाँ पेसा कानून का प्रभावी ढंग से क्रियान्वयन हो। इस दिशा में भी सरकार ध्यान दे जिससे आदिवासियों के संवैधानिक हितों की रक्षा हो सके।

अलीगढ़ में दंगा भड़काने की साजिश पर एनएपीएम सक्रिय

जन आन्दोलनों का राष्ट्रीय समन्वय (एनएपीएम) ने जून के प्रथम सप्ताह में अलीगढ़ में ढाई साल की बच्ची की जघन्य हत्या की निन्दा करते हुए इस घटना को कुछ अतिवादी समूहों द्वारा साम्प्रदायिक रंग देकर तनाव बढ़ाने की कोशिश पर चिन्ता जतायी है। उत्तर प्रदेश के

पुलिस महानिदेशक को एनएपीएम द्वारा लिखे गये पत्र में जहाँ हत्या की घटना के बाद अपराधियों की गिरफ्तारी करने पर पुलिस की त्वरित कार्यवाही की सराहना की गयी वहीं उपद्रवी तत्त्वों द्वारा गड़बड़ी फैलाने और साम्प्रदायिक दंगा कराने की सम्भावना से उन्हें अवगत कराया गया। पत्र में कहा गया है कि यह जरूरी है कि हत्या के सभी आरोपियों को यथाशीघ्र गिरफ्तार कर उन्हें सजा मिले, पर चूँकि इस हिन्दू बच्ची की हत्या के आरोपी मुस्लिम समुदाय से हैं अतः यह भी जरूरी है कि पुलिस प्रमुख मीडिया समूहों द्वारा की जा रही गलत रिपोर्टिंग एवं सोशल मीडिया पर डाले जा रहे नफरत भरे झूठे सन्देशों पर रोक लगाने के लिए तत्काल कदम उठाए ताकि समय रहते साम्प्रदायिक दंगा भड़काने की साजिश और इसकी सम्भावना को खत्म किया जा सके। अलीगढ़ के जिला कलक्टर एवं पुलिस अधीक्षक को भी इस पत्र की प्रति भेजी गयी है।

दलित अस्मिता के लिए एकजुट होने का आह्वान

उत्तराखण्ड में लगातार पिछले कुछ वर्षों में दलितों पर दमन की खबरें आती रही हैं। जन आन्दोलनों का राष्ट्रीय समन्वय की ओर से 12.06.2019 को 'उत्तराखण्ड में बढ़ता दलित अत्याचार: आगे की राह' विषय पर चर्चा का आयोजन किया गया, जिसमें देहरादून के विभिन्न जनसंगठन प्रातिनिधिक रूप में शामिल हुए। गाँधी मैदान में हुई बैठक में शामिल हुए साथियों ने बहुत आक्रोशित स्वर में दलित अत्याचारों के मुद्दे उठाये।

उत्तराखण्ड आन्दोलन के समय टिहरी जिले के निर्भीक पत्रकार स्वर्गीय कुवंर प्रसून ने कहा था कि यह आन्दोलन दलित विरोधी है। आज दलित बेटियों से बलात्कार व हत्या जैसी लगातार हो रही घटनाओं ने हमें कुवंर प्रसून की दी गयी हिदायत पर सोचने के लिए मजबूर किया है।

आज बलात्कार जैसे घृणित कार्य में भी पंचायत बुलाकर समझौता कराने की कोशिश की जाती है, जिसका पैसा भी बाद में नहीं दिया जाता।

30 मई को 9 साल की बिटिया को लेकर उसकी माँ 8 किलोमीटर अकेले दौड़ती रही। और उच्चजाति के गाँव के लोग उसका पीछा कर के उसको वापस लौटने के लिए दबाव बनाते रहे। मगर वह रुकी नहीं तब जाकर केस दाखिल हो पाया। इसके बाद भी लम्बी लड़ाई चली और 11वें दिन जाकर बिटिया का 164 का बयान दर्ज हो पाया। केस में बहुत अनियमितताएँ की गयी हैं।

दलित अत्याचार और उसकी समाज में गैर बराबरी की परम्परा को कैसे समाप्त किया जाए ताकि समाज में दलित वर्ग को उनका हक मिल सके और उनके सम्मान की रक्षा हो सके।

दरअसल गलती सोच के स्तर पर है। गलत सोच का विरोध हर स्तर पर होना चाहिए। मुसलमान से नफरत, दलितों से नफरत-यह नफरत कहाँ ले जाएगी? मात्र निर्भया फण्ड बनाने से काम नहीं चलेगा। हमें एकजुट होकर दबाव बनाना पड़ेगा। हम अन्याय नहीं बर्दाश्त करेंगे। एक साथ आकर लड़ने की जरूरत है। बाबा साहब के नाम पर हजारों संगठन हैं। मगर मुश्किल यह है कि एस सीएस टी एक्ट में 100 में से 2 मुकदमे भी दर्ज नहीं होते। पीड़ित पर चारों तरफ से दबाव पड़ता है, उसका बहिष्कार होता है और दलित हारकर चुप बैठ जाता है।

उत्तराखण्ड के जौनपुर इलाके में नौ वर्षीय बच्ची के साथ हुई हैवानियत, कुछ दिन पहले विवाह में साथ बैठकर खाना खाने के कारण से युवक जितेंद्र की हत्या एवं उत्तराखण्ड में जगह-जगह, दूर गाँवों में, शहरों में हो रहे दलित अत्याचार की कड़े शब्दों में निन्दा की गयी।

लोगों ने कहा कि दलितों का उत्तराखण्ड राज्य में बराबर का हिस्सा है। उनको प्रताड़ित करना, उनको इंसान ना समझकर बहुत आसानी से उनके साथ कोई भी अपराध कर लेना और फिर उसको बड़े लोगों की पंचायत में दबा देने की परम्परा स्वीकार्य नहीं हो सकती। भविष्य में ऐसा ना हो उसके लिए एक रणनीतिक संघर्ष का भी आह्वान किया गया।

बैठक के बाद में एक प्रस्ताव पारित करके दलित अस्मिता के साथ एकजुटता घोषित की गयी। लम्बे मंथन के बाद तय किया गया कि:-

—दलितों को ऐसे ही नहीं छोड़ा जाएगा। इन घटनाओं की पुनरावृत्ति ना हो उसको रोकने

के लिए उनके संघर्ष में सभी साथ होंगे।

—30 जून को 'उत्तराखण्ड में दलित अस्मिता' के प्रश्न पर राज्यभर के समाज कर्मी व जनसंगठनों की इस सिलसिले में बैठक हुई।

अखिल भारतीय किसान संघर्ष

अखिल भारतीय किसान संघर्ष समन्वय समिति के बैनर तले आज मन्दासौर जिले के गाँव टकरावद में हजारों किसानों द्वारा 6 शहीद किसानों की दूसरी बरसी पर शहीद बबलू (पूनमचन्द पाटीदार) के ताऊ श्री बालाराम पाटीदार की अध्यक्षता में भावभीनी श्रद्धांजलि दी गयी।

श्रद्धांजलि सभा को सम्बोधित करते हुए संयोजक एवं राष्ट्रीय किसान मजदूर संगठन के अध्यक्ष एवं पूर्व विधायक श्री वी एम सिंह ने कहा कि 208 किसान संगठनों ने मिल कर देश के प्रधानमन्त्री को किसान-किसान बोलने के लिए मजबूर कर दिया था लेकिन प्रदेश के मुख्यमन्त्री समझते हैं कि किसानों को ट्वीट करके श्रद्धांजलि देने से काम चल जाएगा। हमने जो किसान एकजुटता बनायी है उसके आगे सरकारों को घुटने टेकने पड़ेंगे। पूर्व सांसद श्री राजू शेटी ने कहा कि आश्वासनों से काम चलने वाला नहीं है। स्वाभिमानी शेतकारी संगठन यदि महाराष्ट्र से गन्ने से लेकर दूध तक का रेट तय करवा सकता है तो हम मध्यप्रदेश के किसानों को भी न्याय दिलाएँगे। उन्होंने ऐलान किया कि यदि हमारी माँगें नहीं मानी गयीं तो हम अगली बार शहीद किसानों का श्रद्धांजलि कार्यक्रम मुख्यमन्त्री के निवास पर करेंगे। उन्होंने नवगठित मोदी सरकार को ईवीएम प्रायोजित सरकार बताया।

अखिल भारतीय किसान महासभा के राष्ट्रीय महामन्त्री श्री राजाराम सिंह ने कहा कि मन्दासौर के शहीद किसानों ने देश के किसानों को इकट्ठा कर मोदी सरकार को हिला दिया है, इस दिशा में हमारा संघर्ष जारी रहेगा।

जन आन्दोलनों का राष्ट्रीय समन्वय के समन्वयक श्री मधुरेश ने कहा कि हमारा संघर्ष अन्याय, अत्याचार, और शोषण के खिलाफ है चाहे वह नर्मदा, मन्दासौर या तूतीकोरिन में कहीं भी हो, हम वर्तमान व्यवस्था बदलना चाहते हैं।

अखिल भारतीय किसान मजदूर सभा उ.प्र. के अध्यक्ष श्री धर्मपाल सिंह ने कहा कि



देश को नेताओं की एकजुटता नहीं किसानों की एकजुटता की जरूरत है।

अखिल भारतीय किसान सभा के प्रदेश अध्यक्ष श्री जसविन्दर सिंह ने कहा कि हम किसानों की लूट बन्द कराने के लिए संघर्ष कर रहे हैं। उन्होंने कहा कि किसान जब कृषि उत्पाद खरीदता और बेचता है तब वह केवल किसान होता है लेकिन चुनाव में जाति व पैसा हावी हो जाता है। भाजपा ने औसतन हर क्षेत्र में हाल ही में हुए लोक सभा चुनाव में 65 करोड़ रुपया औसतन खर्च किया है।

किसान संघर्ष समिति के कार्यकारी अध्यक्ष पूर्व विधायक डॉ. सुनीलम ने कहा कि काँग्रेस सरकार अन्तिम साँसें गिन रही है। आक्सीजन की नली अमित शाह ओर मोदी के हाथ में है। वे जब चाहे तब सरकार गिरा सकते हैं। ऐसी स्थिति में काँग्रेस सरकार को, जिन किसानों के चलते उनकी सरकार बनी है, उनकी माँगों को तत्काल पूरा करना चाहिए। मुख्यमन्त्री को ट्वीट करने की बजाय स्वयं मन्दासौर आकर शहीद किसानों को श्रद्धांजलि देनी थी। किसानों पर लादे गये फर्जी मुकदमों वापस कराने थे। किसानों के हत्यारों की गिरफ्तारी करानी थी।

किसान नेता श्री अमृतराम पाटीदार ने कहा कि अब किसान डरने वाला नहीं है। वह कभी अपना डोडा चूरा नहीं जलाएगा। उन्होंने एनडीपीस के दुरुपयोग पर रोक लगाने की माँग की। पाटीदार समाज के अध्यक्ष श्री महेन्द्र पाटीदार

ने कहा कि पट्टा देने के नाम पर वसूली की जाती है। उन्होंने दाल का आयात बन्द करने की माँग की। शेतकारी किसान संगठन के श्री प्रशान्त ने कहा कि किसी भी सरकार की हिम्मत किसानों से टकराने की नहीं है बशर्ते वह एकजुट रहे। सीटू के श्री शैलेन्द्र सिंह ने कहा कि वर्तमान चुनाव में विपक्ष नहीं, देश का बेरोजगार किसान मजदूर हारा है तथा पूँजीपतियों की जीत हुई है जो हमें मंजूर नहीं है। धार से जय किसान आन्दोलन के प्रान्तीय संयोजक (मध्य प्रदेश) श्री सुनील त्रिवेदी ने किसानों पर लादे गये फर्जी मुकदमों वापस लेने की माँग की।

जिला पंचायत मन्दासौर के उपाध्यक्ष श्री गुणवन्त पाटीदार ने कहा कि जब तक किसान संगठन मजबूत नहीं होगा तक तक सरकार से मुकाबला करना मुश्किल होगा किसानों का मजबूत संगठन ही सरकार को झुका सकता है।

श्रद्धांजलि सभा को अखिल भारतीय किसान महासभा के उपाध्यक्ष श्री प्रेमसिंह गेहलावत, उत्तर प्रदेश के अध्यक्ष श्री ईश्वरीय प्रसाद, किसान संघर्ष समिति के प्रदेश महामन्त्री श्री राजेन्द्र पुरोहित, प्रदेश सचिव श्री राजेश वैरागी, जिला अध्यक्ष श्री दिलीप पाटीदार, ने सम्बोधित किया।

आयोजन समिति की ओर से टकरावद गाँव से जनपद सदस्य सुभाष पाटीदार ने धन्यवाद ज्ञापन किया।

—एनएपीएम टीम